साहित्याकाश

INTERNATIONAL PEER REVIEWED REFERRED MONTHLY JOURNAL

वर्ष- 1, खंड- 2, अंक- 2, फरवरी- 2024

प्रधान संपादक

डॉ. संतोष कांबळे

M.A. (History, Hindi), M.Lib. & I.Sc., M.Phil., PGDCA., PGDLAN., PGDT., UGC-NET, Ph.D.-LIS., (Ph.D.-Hindi)

पुस्तकालयाध्यक्ष, उच्च शिक्षा और शोध संस्थान, दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा, खैरताबाद, हैदराबाद

E-Mail- shreyashju@yahoo.co.in Mobile No.- 8125981194

संपादक

डॉ. अजित चुनिलाल चव्हाण

M.A., Ph.D.

सहयोगी प्राध्यापक, वसंतराव नाईक कला, विज्ञान एवं वाणिज्य महाविद्यालय, शहादा, जिला– नंदुरबार

E-Mail- chavan.ajit2@gmail.com Mobile No.- 9422262445

सह–संपादक

प्रो. गौतम भाईदास कुवर

M.A., Ph.D

हिंदी विभाग प्रमुख

पूज्य साने गुरुजी विद्या प्रसारक मंडल का कला, विज्ञान एवं वाणिज्य महाविद्यालय शहादा जिला नंदुरबार महाराष्ट्र

E-Mail- gautamkuwar53@gmail.com Mobile No.- 84118 28448

प्रो. सुनील गुलाब पानपाटील

M.A., Ph.D (SET)

कला, वाणिज्य एवं विज्ञान महिला महाविद्यालय, नंदुरबार

E-Mail- sgpanpatil@gmail.com Mobile No.- 9860235508

कानूनी सलाहकार

एडवोकेट श्री राजेश कुमार शर्मा

B.A., LL.B

अधिवक्ता, सर्वोच्च न्यायालय, नई दिल्ली, **E-Mail- rajesh.shagun@gmail.com Mobile No.- 981144676**

साहित्याकाश

INTERNATIONAL PEER REVIEWED REFERRED MONTHLY JOURNAL

वर्ष– 1, खंड– 2, अंक– 2, फरवरी– 2024

प्रधान संपादक

डॉ. संतोष कांबळे

पुस्तकालयाध्यक्ष,

उच्च शिक्षा और शोध संस्थान,

दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा, खैरताबाद, हैदराबाद

संपादक

डॉ. अजित चुनिलाल चव्हाण

सहयोगी प्राध्यापक,

वसंतराव नाईक कला, विज्ञान एवं वाणिज्य महाविद्यालय,

शहादा, जिला– नंदुरबार

सह–संपादक

प्रो. गौतम भाईदास कुवर

सह–संपादक

प्रो. सुनील गुलाब पानपाटील

कानूनी सलाहकार

एडवोकेट श्री राजेश कुमार शर्मा

अधिवक्ता, सर्वोच्च न्यायालय, नई दिल्ली

परामर्श मंडल

प्रो. अर्जुन चव्हाण
भूतपूर्व विभागाध्यक्ष (हिंदी)
शिवाजी विश्वविद्यालय,
कोल्हापुर

प्रो. सुनिल बाबुराव कुलकर्णी
निदेशक, केंद्रीय हिंदी निदेशालय,
नई दिल्ली
एवं
निदेशक,
केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा

प्रो. एस.वी.एस.एस. नारायण राजू
आचार्य एवं विभागाध्यक्ष (हिंदी)
तमिलनाडु केंद्रीय विश्वविद्यालय,
तिरुवारूर

डॉ. गंगाधर वानोडे
क्षेत्रीय निदेशक,
केंद्रीय हिंदी संस्थान,
आगरा,
(हैदराबाद केंद्र)

एम. नधीरा शिवंति
हिंदी अध्यापिका,
स्वामी विवेकानंद
सांस्कृतिक केंद्र,
कोलंबो, श्रीलंका

साहित्याकाश

INTERNATIONAL PEER REVIEWED REFERRED MONTHLY JOURNAL

वर्ष– 1, खंड– 2, अंक– 2, फरवरी– 2024

EDITORIAL BOARD

डॉ. अर्चना पत्की, सेलू
डॉ. लूनेश कुमार वर्मा, छछानपैरी, छत्तीसगढ़
डॉ. मिनाक्षी सोनवणे, नागपुर
डॉ. राजश्री लक्ष्मण तावरे, भूम, (महाराष्ट्र)
डॉ. मल्लिकार्जुन एन. उजीरे, (कर्नाटक)
डॉ. राहुल कुमार, झारखंड
डॉ. संदीप किर्दत, सातारा
डॉ. वनिता शर्मा, दिल्ली
डॉ. भावना कुमारी, रांची
डॉ. एकलारे चंद्रकांत, मुखेड, महाराष्ट्र
डॉ. अनामिका जैन, मुजफ्फरनगर
डॉ. मौसम कुमार ठाकुर, गोड्डा, झारखंड
डॉ. रौबी, अलीगढ़
डॉ. अमृत लाल जीनगर, पिण्डवाड़ा (राजस्थान)
डॉ. प्रकाश आठवले ऊरुण इस्लामपुर,
डॉ. राम आशीष तिवारी, छत्तीसगढ
डॉ. दीपक प्रसाद, रांची
डॉ. रामप्रवेश त्रिपाठी, देवरिया,
डॉ. परशुराम मालगे, मंगलुरू, (कर्नाटक)
डॉ. कृष्ण कुमार शर्मा, बुलंदशहर
डॉ. विजय वाघ, सेनगाँव, (महाराष्ट्र)
डॉ. रेणुका चव्हाण, नासिक (महाराष्ट्र)
डॉ. लक्ष्मण कदम, मुदखेड (महाराष्ट्र)
डॉ. ज्ञानेन्द्र कुमार, पटना
डॉ. पवार सीताबाई नामदेव इंदापुर
डॉ. टी. लता मंगेश, तिरुपति
डॉ. आशीष कुमार तिवारी, छतरपुर (मध्य प्रदेश)
डॉ. राम सिंह सैन, राजस्थान,
डॉ. गोरखनाथ किर्दत, उरुण–इस्लामपूर
डॉ. वैशाली सुनील शिंदे, सातारा

PEER REVIEW COMMITTEE

डॉ. दिनेश कुमार गुप्ता, गंगापुर सिटी
डॉ. संजीव कुमार, दरौली, सिवान
डॉ. सचिन जाधव, सिंदखेडा
डॉ. के शक्तिराज, यल्लारेड्डी, तेलंगाणा
डॉ. सुरेन्द्र कुमार, रतिया
डॉ. शीतल बियाणी, वाळूज
डॉ. नीलम धारीवाल, उत्तराखंड
डॉ. नीतू रानी, पंजाब
डॉ. सरोज पाटिल, बेतुल, म.प्र.
डॉ. सुनिल पाटिल, चेन्नई
अर्जुन कांबले, बेलगावी, कर्नाटक
ममता शत्रुघ्न माली, मुंबई
डॉ. देविदास जाधव, अर्जापूर, महाराष्ट्र
डॉ. सोनकांबले अरुण वाई,
सुषमा माधवराव नरांजे, भंडारा (महाराष्ट्र)
डॉ. श्रीलेखा के. एन., केरल
अजीति महेश्वर मिश्रा, मुंबई, (महाराष्ट्र)
वंदना शुक्ला, छतरपुर (मध्य प्रदेश)
प्रा. तेलसंग हनमंत भिमराव (महाराष्ट्र)
डॉ. मंगल कोंडिबा ससाणे, बारामती (महाराष्ट्र)

स्वामित्व : प्रधान संपादक, साहित्याकाश मासिक पत्रिका

प्रकाशक : डॉ. संतोष कांबळे
पुस्तकालयाध्यक्ष, उच्च शिक्षा और शोध संस्थान,
दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा, खैरताबाद, हैदराबाद
E-mail- sahityaakash24@gmail.com
Website- https://www.sahityaakash.in

*‘साहित्याकाश’ में प्रकाशित रचनाकारों के विचार स्वयं उनके हैं। अतः संपादक का उनसे सहमत होना अनिवार्य नहीं है।

**‘साहित्याकाश’ पत्रिका से संबंधित सभी विवादास्पद मामले केवल हैदराबाद न्यायालय के अधीन होंगे।

साहित्याकाश

INTERNATIONAL PEER REVIEWED REFERRED MONTHLY JOURNAL

वर्ष– 1, खंड– 2, अंक– 2, फरवरी– 2024

अनुक्रम

अ.क्र.	विवरण	लेखक का नाम	पृ.सं.
1.	संपादकीय– महाप्राण निराला के स्मरण में...	प्रो. सुनील गुलाब पानपाटील	01–02
	आलेख		
2.	संत कबीरदास : दार्शनिक सिद्धांत और शिक्षा	डॉ. मो. मजीद मियाँ	03–09
3.	संस्कृत लोक कथाएँ : उद्भव एवं विकास	डॉ. गोविन्द कुमार 'धारीवाल'	10–14
4.	साहित्य और संचार माध्यम	अखिलेश जैसल एवं डॉ. व्ही. डी. सूर्यवंशी	15–18
5.	साहित्य में नारी का स्थान एवं भूमिका	प्रो. वडगे वृषाली रंगनाथ	19–21
6.	प्रो. सदानंद भोसले द्वारा अनूदित 'घुमक्कड़ी' में मधुमेह का चित्रण	डॉ. सोनकांबले अरुण अशोक	22–25
7.	आधुनिक हिंदी साहित्य में समकालीन बोध	डॉ. रज़िया शहेनाज़ शेख अब्दुल्ला	26–29
8.	समकालीन साहित्य का स्वरूप और संदर्भ	डॉ. दीपक विनायकराव पवार	30–33
9.	कृष्णा सोबती के उपन्यासों में सामाजिक सरोकार	प्रो. डॉ. शेख शहेनाज	34–37
10.	'फिर लौटते हुए' उपन्यास में व्यक्त वृद्ध जीवन संबंधी नवीन दृष्टि	प्रीतिका एन.	38–41
11.	भारतीय संस्कृति और गौरव बोध	डॉ. पोपट भावराव बिरारी	42–45
12.	नारी समस्या को उजागर करता उपन्यास शकुन्तीका : एक विवेचन	डॉ . अमलपुरे सूर्यकांत विश्वनाथ	46–49
13.	नागार्जुन की कहानियों में व्यक्त दलित अस्मिता का अनुशीलन	सिनगरवार पांडूरंग गिरजप्पा	50–54
14.	हिन्दी तथा कोंकणी उपन्यासों में बाल विमर्श ('उसके हिस्से की धूप' और 'पोको' के संदर्भ में)	आश्मा योजिन डिसूजा	55–57
15.	हिन्दी नाटक और रंगमंच के विविध प्रयोग	डॉ. अनुपमा	58–62
16.	शब्द–शक्ति: अर्थ, भेद, स्वरूप एवं महत्त्व	श्री नरेश कुमार 'वत्स'	63–65
	कविता		
17.	आसान नहीं पुरुष होना	शर्मा साक्षी चंद्रशेखर सरिता	66–67
18.	हिंदी दिवस	डॉ. ललिता कुमारी	68–69
19.	अपने–अपने राम	पूर्णिमा श्रीनिवासन	70–70
20.	सखी! देखो बसन्त आ रहा है	पुनीत आर्य	71–71

संपादकीय

महाप्राण निराला के स्मरण में...

“सखी वसंत आया
भरा हर्ष वन के मन
नवोत्कर्ष छाया
किसलय–वसना नव–वय–लतिका
मिली मधुर प्रिय–उर तरू–पतिका
सधुप–वृन्द बंदी । पिक–स्वर नभ सरसाया ।”

वैसे तो सृष्टिकर्ता ने प्रत्येक क्षण को आनंदमूलकता से भर दिया है किंतु जीवन की यात्रा करने वाला व्यक्ति उसे किस रूप में भोगता है यह उसके व्यक्तिगत अनुभव की बात है । समाज और प्रकृति का अभिन्न संबंध है, इसलिए प्रकृति के परिवर्तन समस्त प्राणीमात्र को प्रभावित अवश्य करते हैं । साथ ही समाज में उत्साह और हर्ष का निर्माण करने के लिए प्रकृति के कुछ दिन विशेष हमें सुअवसर प्रदान करते हैं । ऋतु, त्योहार, उत्सव, पर्व, जयंती आदि ऐसे ही दिन विशेष हैं जिन्हें समाज एकात्मभाव से मनाता है । प्रतिवर्ष सभी ऋतु अपने क्रम से आते हैं और अपनी उपस्थिति का दर्शन कराते हुए अलविदा भी ले लेते हैं ।

माघ–फाल्गुन में ऋतुराज वसंत का आगमन होता है । वसंत में मानव मन और प्राकृतिक सृष्टि का आँचल नव चेतना से पल्लवित हो जाता है । सृष्टि भी वसंत का स्वागत पेड़–पौधों के नए पत्ते और फूलों से करती है । वसंत का आगमन जड़–चेतना में हर्ष और उल्लास का संचरण कर देता है । इसलिए हमारे यहाँ वसंत पंचमी के दिन वसंत ऋतु का उत्सव मनाने की परंपरा रही है । ऐसा भी माना गया है कि इसी वसंत पंचमी के दिन देवी शारदा प्रकट हुई । देवी सरस्वती का जन्मोत्सव वसंत पंचमी को मनाया जाता है । देवी शारदा ने इस मुक सृष्टि को वाणी और संगीत कला का अवदान दिया । कितनी अच्छी बात है कि वसंत पंचमी की प्रतिकात्मकता जन को ज्ञान, संगीत, नाद, ताल, कला के प्रति आकर्षित करने की रही है ।

हिंदी साहित्य जगत् के लिए वसंत पंचमी और भी विशेष महत्त्व रखती है क्योंकि इसी दिन महाप्राण सूर्यकांत त्रिपाठी ‘निराला’ की जयंती मनाई जाती है । महाकवि निराला का जन्म माघ शुक्ल 11 संवत् 1955 (21 फरवरी 1899) के दिन बंगाल की महिषादल रियासत जिला मेदिनीपुर में हुआ । निराला की शिक्षा हाईस्कूल तक हुई । बाद में उन्होंने हिंदी, संस्कृत और बांगला भाषा और साहित्य का स्वतंत्र अध्ययन किया । बाल्यावस्था में ही मातृछत्र हट गया । बीस वर्ष उम्र में पिता का देहांत हो गया । पारिवारिक जिम्मेदारी का निर्वहन करने के लिए उन्हें जीवन भर संघर्ष करना पड़ा । मानों जीवन संघर्ष और निराला के बीच अटूट बंधन हो । महामारी के कारण उन्हें अपनी नज़रों के सामने अपने आत्मीयजनों को खोते देखने की पीड़ा झेलनी पड़ी । अपने आत्मीय जनों की मृत्यु, आर्थिक अभाव, दुनिया का विरोधात्मक स्वर, पग–पग पर संघर्ष आदि के कारण उनकी चेतना गंभीर दार्शनिक, आध्यात्मिक, रहस्यवादी तथा क्रांतिकारी बन गयी । हमारे हिंदी साहित्य जगत के लिए गौरव की बात है कि निराला एक ऐसा साहित्यकार हो गया है जिसने जो जिया वहीं साहित्य में उतारा । कथनी और करनी में कोई अंतर नहीं । आत्म–विज्ञापन या स्व–प्रकाशन की भावना से अपने आप को अलग रखा और निरंतर साहित्य सर्जना के माध्यम से अपनी बात करता रहा ।

बहुमुखी प्रतिभा के धनी निराला ने अपनी विलक्षण प्रतिभा से हिंदी साहित्य को समृद्ध किया । उनकी काव्य कृतियाँ– अनामिका, परिमल, गीतिका, तुलसीदास, कुकुरमुत्ता, अपरा, जुही की कली, राम की शक्ति पूजा, सरोजस्मृति, बेला, नये पत्ते, अर्चना, आराधना आदि हिंदी साहित्य की अमुल्य धरोहर है । काव्य के साथ गद्य में विपुल लेखन किया । लगभग सात उपन्यास, चार कहानी–संग्रह, चार–निबंध संग्रह, रेखाचित्र, आलोचनात्मक ग्रंथ, जीवनियाँ, अनूदित ग्रंथ आदि लिखें । छायावादी

काव्यधारा के प्रमुख स्तंभ रहें परंतु प्रगतिवाद का तेवर भी उनके साहित्य में नज़र आता है। हिंदी कविता में सबसे पहले मुक्त छंद का प्रयोग आपने ही किया, इसलिए आप मुक्त छंद के प्रवर्तक रहें हैं। अतः हिंदी साहित्य में कबीर के बाद निराला ही ऐसे कवि है जिन्होंने प्रखर विरोध को सहते हुए अपना मार्ग प्रशस्त किया। निराला के संपूर्ण साहित्य में सत्य की प्रखरता, चिंतन की तेजस्विता और पौरूष का तीखा स्वर सुनाई देता है। यहीं निराला का निरालापन उनके लेखन शैली में दिखाई देता है।

हिंदी कविता के क्षेत्र में लंबी कविता की सर्जना निराला से प्रारंभ होती है। उनसे पहले बांगला में गुरूदेव रवींद्रनाथ टैगोर ने लंबी कविताएँ अवश्य लिखी। निराला द्वारा लिखित लंबी कविताओं में– पंचवटी प्रसंग, यमुना के प्रति, तुलसीदास, महाराज शिवाजी का पत्र, राम की शक्ति पूजा, सरोजस्मृति और कुकुरमुत्ता आदि प्रमुख है।

'पंचवटी प्रसंग' कविता गीति–नाट्य शैली में पाँच भागों में लिखी है। कविता में प्रभु राम के वनवास प्रसंग को आधार बनाया गया है। इस कविता में कवि की उच्च दार्शनिक दृष्टि अभिव्यक्त हुई है। मुक्त छंद का प्रयोग इसमें हुआ है। 'यमुना के प्रति' में भारतवर्ष के स्वर्णिम अतीत का वर्णन अत्यंत सजीव रूप में हुआ है। 'तुलसीदास' में कवि ने भक्त तुलसीदास के जीवन पक्ष को उजागर किया है। तुलसीदास के बहाने निराला ने एक निर्वैक्तिक कवि की रचना प्रक्रिया को समझाने का प्रयास किया है। 'महाराज शिवाजी का पत्र' के माध्यम से निराला ने इतिहास सम्मत बिंदू को स्पर्श किया है। शिवाजी महाराज द्वारा राजा जयसिंह को लिखे पत्र को कवि ने अनुकृति के रूप में इस कविता की रचना की है। प्रस्तुत कविता के माध्यम से भारतीय संस्कृति के उज्ज्वल परिदृश्य को दिखाते हुए हमारे वीर योद्धाओं की वीरता को उजागर किया है। 'राम की शक्ति पूजा' इस लंबी कविता ने निराला को अमर बना दिया है। कविता में राम अवतार के रूप में नहीं बल्कि सामान्य मानव के रूप में चित्रित हुई है। सामान्य मानव के जीवन में व्याप्त संघर्ष, पीड़ा, अभावग्रस्त, विरोध, संशय आदि पहलुओं को कविता में अभिव्यक्त किया है। 'सरोजस्मृति' एक शोकगीत है। अपनी पुत्री सरोज की मृत्यु के स्मरण में यह कविता लिखी है। कवि की निजी पीड़ा, दुःख, यातना कविता में समष्टि की बन जाती है। पूर्वदीप्ति शैली में कवि ने अपने जीवन की त्रासदी का चित्रण किया है। 'कुकुरमुत्ता' यह कविता मार्क्सवादी सिद्धांत को प्रतिपादित करती है। दो खंडों में यह कविता लिखी है। कविता में कुकुरमुत्ता जन साधारण सर्वहारा वर्ग का प्रतीक है और गुलाब पूँजीपति वर्ग का। शोषक और शोषित के बीच का द्वंद्व कविता का केंद्रीय भाव है।

सारांशतः यह कहा जा सकता है कि महाप्राण निराला की साहित्य सेवा अनेकानेक अभावों से संघर्ष करते हुए अपने चरम् बिंदू पर पहुँची है। आर्थिक अभाव से जूझते हुए विरोधाग्नि में तपकर यह सूर्यकांत–सूर्यकांत ही बनकर निकले। ऐसे क्रांतिकारी कवि का 15 अक्तुबर 1961 के दिन इलाहाबाद में देहांत हुआ। साहित्य का सूर्य हमेशा–हमेशा के लिए अस्त हो गया। वैसे भी हमारा दर्शन कहता है कि मनुष्य की काया नष्ट होती है, उसकी आत्मा अमर रहती है। उसकी आत्मा को उसका कर्तृत्व अमर बनाता है। निराला को उसके साहित्य ने अमर बना दिया है। अतः वे यशःकाय मृत्युंजय हो गए।

सह–संपादक

प्रो. सुनील गुलाब पानपाटील

संत कबीरदास : दार्शनिक सिद्धांत और शिक्षा

डॉ. मो. मजीद मियाँ,
पोस्ट डोक्टोरल शोधार्थी
मनिपुर इंटरनेशनल युनिवर्सिटी
khan.mazid1340@gmail.com
Mobile-9851722459

सारांश

मध्यकालीन कवियों में समाज को सबसे ज्यादा वैचारिक रूप से उद्वेलित, आन्दोलित और प्रभावित करने में कवि सम्राट कबीरदास जी का योगदान निःसन्देह रूप से अविस्मरणीय है । उन्होनें अपने वैज्ञानिक एवं तर्कसंगत विचारों से न केवल भारतीय जनमानस को प्रभावित किया बल्कि मन की गहराइयों में जाकर उनके विचारों को परिवर्तित करने में एक अभिनवमनोमूलक दृष्टि भी प्रदान की है । कबीर का प्रादुर्भाव ऐसे समय में हुआ जब समाज अनेक कुरीतियों, कुप्रथाओं एवं विषमताओं से ग्रस्त था । जातिवाद, छुआछूत, अन्धविश्वास, रूढ़िवादिता, मिथ्याचार व पाखण्डवाद का बोल बाला था और हिन्दु व मुसलमान धार्मिक विद्वेष के कारण आपस में झगड़ते रहते थे । दोनों धर्मो के ठेकेदार स्वार्थ की रोटिया धार्मिक उन्माद के चूल्हे पर सेक रहे थे । धार्मिक कट्टरता एवं संकीर्णता के कारण समाज का सन्तुलन बिगड़ रहा था । ऐसे समय में किसी ऐसे समाज सुधारक की आवश्यकता थी, जो समाज में व्याप्त इन बुराइयों पर निर्भीकता से प्रहार कर सके और दोनों धर्मों के अनुयायिओं को बिना किसी भेदभाव के सदाचरण का उपदेश देकर सामाजिक समरसता की स्थापना करे । कबीर इसी आवश्यकता की प्रतिपूर्ति करते हुए दिखायी पड़ते हैं ।

बीज–शब्द : व्यक्तित्व, समाज, बुराइयाँ, सुधार, संघर्ष, प्रासंगिकता ।

प्रस्तावना

संत कबीरदास को दार्शनिक कहना या उनके मतों में दार्शनिक सिद्धांत निर्मित करना बड़ा ही जोखिम और जटिल कार्य है । संत कबीरदास मूलतः भक्त थे । 'सत्' के स्वरूप का उन्होंने जो रहस्योद्घाटन और विश्लेषण किया है, वह अपने आध्यात्मिक ज्ञान और अनुभूत सत्य के आधार पर ही केन्द्रित है । इसके विपरीत दार्शनिक होने के लिए संत या भक्त होना कोई अनिवार्य नहीं है । दार्शनिक किसी भी वस्तु के तात्विक स्वरूप का निर्णय बुद्धि से करता है । उसके विचारों में तर्क और बुद्धि के द्वारा सन्तुलन बना रहता है । दार्शनिक के रूप में संत कबीर के मूल्यांकन में दूसरी समस्या यह आती है कि उनमें किसी एक मत, धर्म का आग्रह नही है बल्कि कई मतों, धर्मों का सन्तुलन है । भक्त के रूप में उन्होंने जहाँ वर्ण्य–वस्तु का चुनाव किया है, अर्थात् उसकी आत्मा भक्त के अनुकूल है, वहीं अभिव्यक्ति दार्शनिक के समान बुद्धि, तर्क और विश्लेषण से युक्त उनके तर्क ऐसे अकाट्य होते हैं कि बड़े से बड़ा पण्डित भी निरुत्तर हो जाता है । संभवतः उनके इसी व्यक्तित्व से प्रभावित होकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने संत कबीर को 'ज्ञानमार्गी' कहना स्वीकार किया था । इस दृष्टि से देखना चाहें तो संत कबीर का एक व्यक्तित्व दार्शनिक का हो सकता है ।

संत कबीरदास जी का दार्शनिक विचार अनेक दर्शनों का समन्वय है, और उसके बारे में निर्णयात्मक रूप से कुछ कहना आसान नहीं है । इसी बात का संकेत करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में लिखा था, जिन्होंने एक ओर तो स्वामी रामानंद जी के शिष्य होकर भारतीय अद्वैतवाद की कुछ स्थूल बातें ग्रहण की और दूसरी ओर योगियों और सूफी फकीरों के

संस्कार प्राप्त किये । वैष्णवों से उन्होंने अहिंसावाद और प्रपत्तिवाद लिये । इसी से उनके तथा निर्गुणवाद वाले और दूसरे संतों के वचनों में कहीं भारतीय अद्वैतवाद की झलक मिलती है, कहीं योगियों के नाड़ीचक्र की, कहीं सूफियों के प्रेमतत्व की, कहीं पैगम्बरी कट्टर खुदावाद की और कहीं अहिंसावाद की । अतः तात्विक दृष्टि से न तो हम इन्हें पूरे अद्वैतवादी कह सकते हैं और न एकेश्वरवादी ।"[1] वस्तुतः इस मुद्दे पर आलोचकों में मतैक्य नहीं है और प्रदत्त तथ्य अपर्याप्त हैं ।

अकबर कालीन प्रसिद्ध इतिहासकार मोहसिन फानी ने अपने प्रसिद्ध इतिहास–ग्रन्थ 'दबिस्तान' में कबीर को 'मुबाहिद' (एकेश्वरवादी) कहा है । उनके लिए इसी शब्द का प्रयोग 'आइने–ए–अकबरी' में भी किया गया है, रेवरेंड जी एच वेस्टकॉट ने इस शब्द पर टिप्पणी करते हुए कहा है कि– "कोई मुसलमान कभी भी किसी मूर्तिपूजक को 'मुबाहिद' नहीं कह सकता । इससे यह प्रमाणित होता है कि कबीर ईश्वरवादी थे, सर्वेश्वरवादी नहीं ।"[2] बाबू श्याम सुन्दर दास ने संत कबीरदास को ब्रह्मवादी या अद्वैतवादी माना है । उनका कथन है– यह शंकर का अद्वैत है, जिसमें आत्मा और परमात्मा परमार्थतः एक माने जाते हैं, परन्तु बीच में अज्ञान के आ जाने से आत्मा अपनी पारमार्थिकता को भूल जाती है । यही बात हम संत कबीर में भी देख चुके हैं । डॉ. पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल ने संत कबीर को अद्वैत विचारधारा मानने वाले संतों में प्रमुख स्थान प्रदान किया है । डॉ. रामकुमार वर्मा के अनुसार– "अद्वैतवाद और सूफीमत में ईश्वर की जो भावना है, वही उन्होंने अपने दर्शन में रखी है । उनका ईश्वर सर्वोपरि है, वह नासूत होकर भी लाहूत है– संसार के कण–कण में विद्यमान होते हुए भी संसार से परे है ।"[3]

इन सबसे हटकर पं हजारी प्रसाद द्विवेदी ने एक नवीन स्थापना करते हुए संत कबीर के निर्गुन राम को नाथपंथी योगियों के द्वैताद्वैत विलक्षण, भावाभाव – विनिर्मुक्त, अलख, अगोचर, अगम्य, प्रेमपारावार भगवान को संत कबीरदास ने निर्गुण राम कहकर सम्बोधित किया है । रेवरेंड अहमद शाह ने बीजक के आधार पर संत कबीर के उपदेशों के सम्बन्ध में अपना मत प्रकट करते हुए कहा है कि "संत कबीर के उपदेश न तो वेदान्त पर आधृत हैं न सांख्य पर, न वे न्याय के अनुगामी हैं, न मीमांसा के, उनके विचार उनके मौलिक चिन्तन पर आधृत हैं ।"[4] वस्तुतः शाह साहब, संत कबीर के सिद्धांतों से किसी विचार से पूर्णतः साम्य न बैठा सके, क्योंकि संत कबीर ने इन विचारों की कोरी नकल नहीं की थी बल्कि उन्होंने कई तत्त्वों को मिलाकर एक नवीन जीवन दर्शन का रसायन तैयार किया था, जो पूर्णतः मौलिक था । इसी से मिलता–जुलता विचार श्री अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' का भी है । उन्होंने संत कबीर को वैष्णव भक्ति से प्रभावित मानते हुए 'स्वाधीन चिन्ता का पुरुष' कहा है । ठीक इसी तरह का विचार व्यक्त करते हुए श्री परशुराम चतुर्वेदी ने संत कबीर की पंक्तियों को उद्धृत करके यह प्रमाणित करना चाहा है कि संत कबीर के मत में जो तत्व प्रकाशित हुआ था, वह उनके स्वाधीन चिन्तन का ही परिणाम था । इस तत्व के स्वरूप के सम्बंध में आप कहते हैं– "वह परमतत्व निर्गुण एवं सगुण इन दोनों से परे की वस्तु है और वह अनुभव में आने पर भी अनिर्वचनीय है ।"[5] वस्तुतः हरिऔध जी और परशुराम चतुर्वेदी जी ने संत कबीर के सिद्धांतों में एक नवीन तत्व देखा था, जो युग विशेष की परिस्थितियों की चिन्ता से उपजा था ।

उपर्युक्त विचारकों के विश्लेषणों को देखने से ज्ञात होता है कि प्रत्येक विचारक ने अपने– अपने ढँग से संत कबीर के दार्शनिक सिद्धांतों को स्थिर करना चाहा है । जैसे मोहसिन फानी के विचारों के केन्द्र में इस्लाम की धर्मभावना है, बाबू श्यामसुन्दर दास के मत के पीछे शंकराचार्य का अद्वैतवाद व संत कबीर का दर्शन एक ही धारा की अगली कड़ी मानने का पूर्वाग्रह रहा । डॉ. बड़थ्वाल का पूर्वाग्रह यह था कि उन्होंने पूरी निर्गुण संत–परम्परा में व्याप्त विचारों को वेदान्त के पुराने मतों के अन्तर्गत व्यवस्थित करना चाहा है । वहीं आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, नाथपंथी योगियों के सिद्धांतों को पृष्ठभूमि में रखकर संत कबीर के दार्शनिक सिद्धांत निश्चित कर रहे थे । विभिन्न विचारकों और अध्येताओं की नजर से संत कबीरदास जी के दार्शनिक सिद्धांतों को परखने के बाद यह देखना ज्यादा उचित होगा कि संत कबीर ने विभिन्न दार्शनिक तत्वों पर किस तरह के विचार व्यक्त किए हैं ।

संत कबीरदास जी ने जिस परमतत्त्व (ईश्वर) को निर्गुणराम कहा है वह अज्ञेय है । उसकी गति लक्षित नहीं की जा सकती। चारों वेद, स्मृतियाँ, पुराण, व्याकरण आदि कोई भी उसका मर्म नहीं जानते । वह निरंजन (माया) रहित है । न वह जन्म लेता है, न विनष्ट होता है ।"[6] न उसकी कोई रूपरेखा, न उसका कोई वर्ण है । उस निर्भय, निराकार, अलख निरंजन को कोई ठीक से नहीं जानता । वह 'वर्ण–अवर्ण' से मुक्त, 'आदि मध्य, अंत रहित', 'सृष्टि और लय से परे' एवं अकथ्य है । संत कबीरदास इस 'नेति –नेति' शैली को बहुत दूर तक ले गए हैं । वह बार–बार उस परमतत्व ईश्वर को सभी प्रकार के स्थूल तत्वों से अलग करना चाहते हैं । वे इसी भावावेश में कहते हैं कि राम–नाम की चर्चा तो बहुत हुई है पर उसका मर्म कोई नहीं जानता । वस्तुतः वह वेदों की सीमा से परे हैं । सभी प्रकार के भेदों से अलग हैं । वह पाप और पुण्य, ज्ञान और ध्यान, स्थूल और शून्य सभी से परे हैं ।"[7] यहाँ हम स्पष्ट देख रहे हैं कि भाषा संत कबीर के सामने लाचार नहीं है बल्कि भाषा संत कबीर का साथ नहीं दे रही है । सामान्यजन (पण्डितजन की ओर भी इशारा है) जिस भाषा से परिचित हैं वह भेदमूलक है क्योंकि इस भाषा में रूप है, अरूप है; वर्ण है, अवर्ण है; लोक है, वेद है; निर्गुण है, सगुण है; जन्म है, मरण है; आदि है, अंत है; पाप है, पुण्य है; परमतत्त्व इन सभी विषमताबोधक स्थितियों से परे है । इसलिए संत कबीर बार–बार कहते हैं वह जैसा है उसे ठीक वैसा ही समझना और समझाना दोनो ही असम्भव है । पहली कठिनाई तो स्वरूप के वास्तविक बोध की है, क्योंकि–

"जस तूं तस तोहि कोइ न जान,
लोग कहैं सब आनहिं आन ।"[8]

संत कबीरदास जी का यह निर्गुणराम (परमतत्व) सर्व–निरपेक्ष होते हुए भी एक है । "वे बार–बार कहते हैं कि मैंने तो उस एक तत्व को एक ही करके समझा है । वे बलपूर्वक कहते हैं कि हिन्दुओं और तुर्कों का कर्त्ता एक ही है । राम और रहीम, केशव और करीम विसमिल और विश्वंभर में भेद नहीं करना चाहिए ।"[9] अपना मत स्पष्ट करते हुए वह कहते हैं कि मेरा सारा भ्रम दूर हो गया है और मेरा मन एक निरंजन में लग गया है । मेरा अल्लाह एक और निरंजन है । वह सबमें और सब उसमें विद्यमान हैं । उसके अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं है । जो परमात्मा सारी सृष्टि में समाया हुआ है, जो अखिल ब्रह्माण्ड में व्याप्त है, वही हमारे हृदय में भी विद्यमान है । उसे प्राप्त करने के लिए इधर–उधर भटकने की आवश्यकता नहीं । इसलिए संत कबीर मन को समझाते हुए कहते हैं कि रे मन! कहीं जाने की आवश्यकता नहीं है, वह अविनाशी तो हृदय–सरोवर में ही विद्यमान है । उसे दुनिया में ढूँढ़ना तो भ्रम में पड़ना है । हरि तो हृदय में ही है ।

परमतत्त्व को बार–बार निर्गुण, निरंजन, निराकार कहते हुए भी संत कबीर उसमें उन गुणों की स्थिति मानते हैं जो सामान्यतः सभी भक्त अपने आराध्य में स्वीकार करते हैं । संत कबीरदास जी यह भी स्वीकार करते हैं कि आकार–रहित और अव्यक्त होते हुए भी परमात्मा संसार की सारी संवेदनाएँ ग्रहण करने में समर्थ है । परमतत्त्व ईश्वर(निर्गुण ब्रह्म) के संबंध में उपर्युक्त मान्यताएँ उनके निजी चिन्तन और अनुभूति का परिणाम भी हैं और उनके युग व पूर्व– परम्परा की आध्यात्मिक चेतना से प्रेरित भी ।

शंकराचार्य के वेदान्त दर्शन के अनुसार "शरीर तथा इन्द्रिय समूह के अध्यक्ष और कर्मफल के भोक्ता आत्मा को ही जीव कहते हैं ।"[10] दूसरे शब्दों में कहा गया है कि "पर ब्रह्म ही उपाधि सम्पर्क से जीव भाव में विद्यमान रहता है । अर्थात् परब्रह्म, आत्मा और जीव में तात्विक भेद नहीं है । आत्मा और ब्रह्म तो एक ही है । जब आत्मा उपाधि – सम्पर्क के कारण अन्तःकरणावच्छिन्न होकर कर्म–फल का भोक्ता हो जाता है तो वह जीव कहलाता है और जब वह उपाधि सम्पर्क रहित शुद्ध चैतन्य की स्थिति में होता है तब वह ब्रह्म कहलाता है । संत कबीरदास जी के जीव तत्व सम्बंधी विचार उपर्युक्त विचार से काफी मिलते–जुलते हैं । वे कहते हैं कि रात्रि के समय स्वप्नावस्था में पारस (पारस रूप शुद्ध चैतन्य = ब्रह्म) और जीव में भेद रहता है।

जब तक मैं सोता रहता हूँ तब तक द्वैतभाव बना रहता है, जब जागता हूँ तो अभेद हो जाता है ।"[11] रात्रि अज्ञान–दशा का सूचक है और जागरण ज्ञान–दशा का । ज्ञान–दशा में जीव और ब्रह्म की पूर्ण एकता संत कबीर को मान्य है । संत कबीरदास ने जीव के शुद्ध चेतन रूप की ओर संकेत करते हुए एक स्थान पर उसे राम का अंश भी कहा है । जीव और ब्रह्म की तात्विक एकता स्वीकार करते हुए भी संत कबीरदास यह मानते हैं कि जीव अपने शुद्ध चेतन रूप को भूलकर विषयों में अनुरक्त है । ऐसे जीव को वे हद का जीव कहते हैं । ऐसे जीव से वे मुख भर बोलना भी नहीं चाहते, किन्तु जो बेहद के जीव हैं जो असीम तत्व में अनुरक्त हैं, उनसे वे अपने हृदय की बात प्रकट करने में संकोच नहीं करते ।

अद्वैत वेदान्त की एक अद्भुत माया है । यह न सत् है न असत् । सत् इसलिए नहीं है कि ब्रह्म का ज्ञान होने पर इसका ज्ञान बाधित हो जाता है किन्तु यह असत् भी नहीं है क्योंकि असत् वस्तु की प्रतीति नहीं होती जबकि माया की प्रतीति होती है । शंकराचार्य के अनुसार माया भगवान की अव्यक्त शक्ति है, जिसके आदि का पता नहीं चलता । यह गुण त्रय (सत, रज, तम) से युक्त अविधा रूपिणी है । संत कबीरदास ने माया के सम्बंध में विचार करते हुए उपर्युक्त विचारों के निकट का ही मत दिया है । संत कबीरदास जी के माया संबंधी विचारों का सम्यक् परीक्षण करने के पश्चात् यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्हें माया के स्वरूप का पूरा ज्ञान था । वे अच्छी तरह जानते हैं कि माया त्रिगुणात्मिका है । वे यह भी जानते हैं कि माया भगवान की ही शक्ति है जो सारे संसार के जीवों को अपना बनाने के लिए निकल पड़ी है । वे संतों को समझाते हुए कहते हैं कि यह सब आवागमन का चक्र माया ही है अर्थात् जो कुछ उत्पन्न और विनष्ट होता है, वह सब माया से प्रभावित है ।"[12] एक जगह संत कबीर ने संसार के प्रति आसक्ति उत्पन्न करने वाले सारे बन्धनों को माया बताया है । वह कहते हैं कि आदर, मान, सांसारिक विषयों के प्रति होने वाली आसक्ति, जप, तप, योग, माता, पिता, स्त्री, पुत्र यह सब कुछ माया ही है । यह माया जल, थल, आकाश और हमारे आस–पास चारों ओर व्याप्त है । सभी लोग माया के बंधन में पड़े हैं । माया के कारण ही लोग अपने प्राण दे देते हैं । ऐसी माया को त्यागने का बार–बार प्रयत्न करता हूँ किन्तु यह छोड़ी नहीं जाती । जहाँ ब्रह्म ज्ञान है वहाँ माया का स्थान नहीं है ।" संत कबीर ने अनेक जगह माया की भर्त्सना की है । उसकी उपमा कहीं वह वेश्या से देते हैं, कहीं उसे पापणी, मोहणी, दारुणी और विश्वासघातिनी कहा है उसे रामभक्ति में सबसे बड़ी बाधा भी माना है लेकिन महात्मा कबीर को यह भी विश्वास है कि जब परमात्मा का स्मरण करने वाले संत इसे भोगकर इसकी उपेक्षा कर देते हैं तब यह उनकी दासी बन जाती है ।"[13]

संसार की सृष्टि के संबंध में संत कबीरदास के विचारों पर सांख्य, अद्वैतवेदान्त तथा शैव, तंत्र एवं योग दर्शनों का संस्कारगत प्रभाव लक्षित होता है । कहीं–कहीं उन्होंने इस सन्दर्भ में अल्लाह द्वारा एक नूर से सारे संसार की सृष्टि होने की बात कहकर इस्लाम की मान्यताओं से परिचित होने का संकेत भी दिया है । इस सम्बंध में संत कबीरदास पर सांख्य का प्रभाव भी लक्षित किया गया है । इसी प्रभाव की चर्चा करते हुए डॉ. बड़थ्वाल ने कहा है,"अतएव शंकराचार्य के अनुयायियों की भांति कबीर आदि निर्गुणियों ने भी सांख्य सिद्धान्त का उपयोग किया, परन्तु उस पर अद्वैत की छाप लगा कर प्रकृति और पुरुष को भी उन्होंने व्यावहारिक सत्य के रूप में ग्रहण किया और उनके संयुक्त रूप को ब्रह्म का व्यावहारिक व्यक्त स्वरूप माना जिसके परे अव्यक्त पूर्ण ब्रह्म का स्थान था ।"[14] यहाँ यह देखना दिलचस्प है कि सांख्य दर्शन में उल्लिखित तत्त्वों (तीन गुणों और पाँच तत्त्वों) से संसार के रचे जाने की बात कहकर भी संत कबीर ब्रह्माण्ड और पिण्ड को नश्वर मानते हैं, जबकि इसके विपरीत सांख्य इनका नाश नहीं मानता । संत कबीर ने कहा है कि ब्रह्माण्ड भी नहीं है, पिण्ड भी नहीं है और पंचतत्त्व भी नहीं है ।"[15] यह तन, यह मन और सत, रज, तम ये तीनों गुण भी मिथ्या हैं । यहाँ हम यह साफ देख सकते हैं कि सांख्य दर्शन की शब्दावली का प्रयोग करते हुए भी संत कबीर ने सृष्टि के सम्बंध में सांख्य का विचार स्वीकार नहीं किया है । इसी तरह तत्कालीन समय में प्रचलित शक्ति, तन्त्र और योग– इन तीनों शब्दों में स्वीकृत नाद और बिन्दु की चर्चा भी संत कबीर ने की है । इन्हीं मतों से प्रभावित होकर एक जगह उन्होंने

कहा है कि नाद और बिन्दु से रचित यह शरीर नौका रूप है और राम का नाम ही इसे भवसागर से तारने के लिए कर्णधार है। एक जगह उन्होंने यह भी लिखा है कि मेरा खसम वही है, जो नाद–बिन्दु से परे हैं। तंत्र सम्प्रदाय के ग्रन्थों में नाद और बिन्दु पर विस्तारपूर्वक चर्चा है। संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि ब्रह्माण्ड और पिण्ड दोनों शिव–शक्ति तत्व के ही व्यक्त रूप हैं। मानव पिण्ड में शक्ति कुण्डलिनी रूप में सुप्त रहती है। ब्रह्माण्ड में इसे महाकुण्डलिनी के रूप में सुप्त माना जाता है। योगी जब साधना करता है तो उसकी कुण्डलिनी शक्ति ऊर्ध्वमुखी होकर शिव तत्व से मिलने के लिए आगे बढ़ती है। कुण्डलिनी के उबुद्ध होकर शिवोन्मुख होने से जो स्फोट होता है, उसे नाद कहते है।"[16] तंत्रशास्त्र के प्रसिद्ध ग्रन्थ शारदा तिलक में वर्णित है कि प्रकृति सम्पृक्त सच्चिदानन्दरूप परमेश्वर शक्ति उत्पन्न हुई। शक्ति से नाद और नाद से बिन्दु उत्पन्न हुआ। यह बिन्दु तत्त्व अपनी इच्छा से तीन रूपों– बिन्दु, नाद और बीज– में विभक्त हो गया। बिन्दु शिवात्मक है, बीज शक्तिरूप है और नाद इन दोनों के समवाय सम्बंध से उत्पन्न है। 'सर जान वुकराफ ने षट्चक्र निरूपण ग्रन्थ पर श्री राघव भट्ट की टीका का हवाला देते हुए बताया है कि नाद में सत्, रज और तम, प्रकृति के ये तीनों गुण विद्यमान होते हैं। इनमें से कभी किसी एक की और कभी किसी दूसरे की प्रधानता होती है। जब तमोगुण विद्यमान होता है तो नाद अव्यक्त रहता है (ध्वन्यात्मकोऽव्यक्त नादः) इस अव्यक्तावस्था में इसे निबोधिका या बोधिनी कहते हैं। जब रजोगुण प्रधान होता है, तब इसे नाद कहते हैं। इस अवस्था में किंचित् वर्णवोधन्यासात्मक ध्वनि होती है। जब सत्वगुण का प्राधान्य होता है, तब नाद बिन्दु रूप हो जाता है।"[17] सम्पूर्ण वक्तव्यों का निष्कर्ष निकालने पर यही प्रतीत होता है कि संत कबीर नाद और बिन्दु को परम चैतन्य की स्थूल अभिव्यक्ति मानते हैं और इनसे होने वाली रचना को भी नश्वर या नाशवान ही समझते हैं। संसार सृष्टि के संबंध में कहीं संत कबीर पर सांख्य, कहीं शषाक्त, कहीं तंत्र और कहीं प्रणवतत्व का प्रभाव आलोचकों ने लक्षित किया है लेकिन इन दर्शनों का प्रभाव ही संत कबीर ने ग्रहण किया है, अनुकरण नहीं किया है, यह कबीर के स्वतंत्रचेता व्यक्तित्व के अनुकूल ही है।

संसार पर संत कबीर का विचार उपरले तौर पर देखने पर निषेधात्मक प्रतीत होता है, लेकिन गहराई से विचार करने पर उनके निषेध का सच समझ में आता है क्योंकि संत कबीर का निषेध ही उनके सामाजिक चेतना और जागरुकता का प्रमाण है। संसार की असारता दिखाकर संत कबीर ने लोगों से इस संसार के प्रति मोह के त्यागने की बात बार–बार कही है। जगत के मिथ्यात्व या असारता पर कबीरदास जी ने बहुत बल दिया है। इसकी उपमा उन्होंने सेमर के फूल, 'धुँआ के धरौहर' से दी हैं। कभी इसे 'कुहरा का धुन्ध' और 'कभी कागज की पुड़िया' कहा है। संत कबीर कभी इसे स्वप्नवत् कहते हैं और कभी एक हाट कहा है जहाँ सब लोग वाणिज्य करने आये हैं।"[18] प्रत्येक स्थिति में संत कबीर संसार की नश्वरता, निस्सारता और दुःखमयता दिखाते हैं। वस्तुतः संत कबीर की जीवन दृष्टि निवृत्तिमूलक है, लेकिन यह निवृत्तिमूलकता केवल सामान्यजन और पण्डितों को सचेत करने के लिए ही है और इसके माध्यम से संत कबीर एकमात्र परमतत्त्व ब्रह्म की सत्यता प्रमाणित करना चाहते हैं।

भारतीय दर्शन में चार पुरुषार्थों में मोक्ष को सबसे अंतिम लेकिन सबसे महत्वपूर्ण पुरुषार्थ स्वीकार किया गया है। भारतीय दर्शन में इसे जीवन का चरम स्वीकार किया गया है। मोक्ष का अर्थ है जीवन मरण के चक्र से छुटकारा। आसक्ति और कर्म से निवृत्ति। कर्म में प्रवृत्ति न होने से उसका फल भोगने का प्रश्न ही नहीं उठता है। अतः जन्म–मरण का क्रम समाप्त हो जाता है और परम तत्त्व से मिलकर एकाकार हो जाता है। संत कबीर और अन्य संतों ने संसार को भवसागर माना है और इससे मुक्त होने को तरना (पार हो जाना) कहा है। सामान्य धारणा यह है कि संसार से छुटकारा पाकर जीव वैकुण्ठलोक में पहुँच जाता है। संत कबीरदास किसी वैकुण्ठलोक में विश्वास नहीं करते। वह कहते हैं कि हे भगवान! हमको तार कर कहाँ ले जाओगे? वह वैकुण्ठ कहाँ और कैसा है ? मुक्ति का प्रश्न तो तब उठता है जब आपने हमको अपने से दूर कर दिया हो । तारने और तरने का प्रश्न तभी

तक है जब तक तत्त्वज्ञान नहीं होता । संत कबीर ने सभी मे एक राम की सत्ता लक्षित कर ली है । अब उसे पूर्ण मानसिक शान्ति प्राप्त है ।"[19] स्पष्ट है कि संत कबीर की दृष्टि में राम से एक भेंट होना ही मुक्ति है । इसके लिए ब्रह्म की सर्वव्यापकता एवं नित्यता का ज्ञान आवश्यक है । शरीर रहते हुए जो माया के सारे बन्धनों को काट लेता है, भेदभाव से ऊपर उठ जाता है, विषयासक्त नहीं होता, उसे जीवन्मुक्त कहा जा सकता है । संत कबीर के अनुसार जगत् की समस्त आशाओं को त्याग देना ही जीवन्मृतक (जीवन्मुक्त) होना है । एक अन्य जगह पर संत कबीर ने कहा कि मेरा मन सांसारिक विषयों से विमुख होकर अपनी सनातन स्थिति (शुद्ध, निर्विकार, निर्द्वन्द्व स्थिति) में पहुँच गया है और अब मैं जीवन्मृतक (जीवन्मुक्त) स्थिति का अनुभव कर रहा हूँ । मोक्ष सम्बंधी संत कबीर के वक्तव्यों को देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके विचार भारतीय दर्शन में स्वीकृत धारणाओं के अनुकूल ही है ।

निष्कर्ष

सम्पूर्णतः संत कबीरदास जी के दार्शनिक विचारों का अध्ययन कर हम पाते हैं कि कबीरदास जी के दार्शनिक विचार मात्र पलायन या बौद्धिक प्रयास नहीं है बल्कि उनकी सामाजिक चेतना से अनुप्राणित हैं । कबीरदास जी के दार्शनिक विचार मात्र सिद्धान्त नहीं बल्कि व्यवहार को ढालने का उपक्रम है क्योंकि उन्होंने सिद्धान्त और व्यवहार को एक करके दिखाया है । कबीरदास जी के दार्शनिक विचार बुद्धिप्रसूत न होकर अनुभूति और सत्संगति की आंच में पके हुए हैं और यही कारण है कि उन्होंने अपने पूर्व और समय में प्रचलित किसी भी मतों और सिद्धांतों का अनुकरण नहीं किया है बल्कि उसका युगानुरूप संशोधन कर उसे तेज धार दी है जिससे वह समाज के जड़तापूर्ण अनर्गल प्रलापों की जड़ काट सके । संत कबीर के दार्शनिक विचारों का गन्तव्य या लक्ष्य समाज–सुधार या समाज परिवर्तन ही है, इस दृष्टि से वह साधन है साध्य नहीं । साध्य तो मात्र समाज–परिवर्तन ही है । हिन्दू पुराण और धार्मिक साहित्य में जैसे कृष्ण का व्यक्तित्व और उनका दर्शन है उसी प्रकार संत कबीर का । जैसे कृष्ण का दर्शन बुराइयों के समानान्तर श्रेष्ठ व्यवस्था स्थापित करना था, उसी प्रकार कबीर का भी । इस बिन्दु पर दोनों महानायक एक हैं, और उनके दार्शनिक विचार अनुकरणीय भी ।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. शुक्ल, रामचन्द्र– 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', संस्करण 1981, पृ 49.
2. वेस्टकॉट– 'कबीर एण्ड कबीर पंथ', पृ 23.
3. रामकुमार– 'कबीर का रहस्यवाद', संस्करण–1972 , पृ 19.
4. शाह, अहमद (रेवरेण्ड)– 'द बीजक ऑफ कबीर', संस्करण– 1917, पृ 35.
5. चतुर्वेदी, परशुराम– 'कबीर साहित्य की परख', 2011, पृ 89.
6. दास, श्याम सुन्दर– 'कबीर ग्रन्थावली', संस्करण– 1928, पद 49, पृ 174.
7. वही, पद 18, पृ 279.
8. वही, पद 16, पृ 277.
9. वही, पद 58, पृ 180.
10. उपाध्याय, बलदेव– 'भारतीय दर्शन', पृ 457.
11. वही, साखी, पद 24, पृ 42.
12. दास, श्याम सुन्दर– 'कबीर ग्रन्थावली', पद 45, पृ 84.
13. वही, साखी 10, पृ 54.

14. बड़थ्वाल, पीताम्बर दत्त– 'हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय', पृ 131.

15. गुप्त, माता प्रसाद– 'कबीर ग्रन्थावली', पद 32, पृ 164.

16. द्विवेदी, हजारी प्रसाद– 'कबीर', पृ 46.

17. वुडरोफ, जॉन– 'इन्ट्रोडक्शन टू तन्त्र शास्त्र', पृ. 8.

18. दास, श्याम सुन्दर– 'कबीर ग्रन्थावली' राग आसावरी, पद 33, पृ 285.

19. तिवारी, पारसनाथ– 'कबीर ग्रन्थावली', पद 54, पृ 31.

साहित्याकाश

संस्कृत लोक कथाएँ : उद्भव एवं विकास

डॉ. गोविन्द कुमार 'धारीवाल'
सहायक अध्यापक (हिन्दी)
रा. इ. का. धोपड़धार, टिहरी गढ़वाल, उत्तराखंड
ई-मेल- gkdhariwal1987@gmail.com
मो.- 9536352124

साहित्य को समाज का दर्पण कहा जाता है । उसी प्रकार लोक साहित्य को लोक जीवन का दर्पण मानना भी उचित ही होगा । साहित्य की विभिन्न विधाओं में कथा साहित्य लोक जीवन की निकटतम अभिव्यक्ति है । संस्कृत साहित्य में लोक कथाओं का आरंभ वेदों से माना गया है । लोक कथाओं का मूल स्रोत वेदों को मानना उचित होगा । लोक कथाओं के इतिहास को जानने के लिए सबसे पहले वेदों का अध्ययन करना चाहिए, क्योंकि वेद ही प्रथम प्रमाण माने गए हैं । "लोक कथाओं का जन्म उस समय हुआ जब मनुष्य कल्पना कथा और इतिहास में अंतर नहीं कर सकता था । स्मृतिपटल पर जीवित रखने योग्य घटनाएँ जनजीवन में व्याप्त होकर लोक कथाओं अथवा गीतों के रूप में अमर हो जाती हैं । उन्हें चाहे कल्पना कहिए, कथा कहकर संबोधित करिए अथवा इतिहास के पन्नों में बांधिए ।"[1] लोक कथा का आरंभ या मूल एक विशेष स्थान अथवा एक विशेष समय को नहीं माना जा सकता है । भले ही वह आरंभ में मौखिक परंपरा के आधार पर विश्व भर में फैली हो परंतु उसमें निहित ज्ञान भंडार आज के साहित्य से अधिक ज्ञानवर्धक सिद्ध हो रहा है ।

लोक साहित्य की उत्पत्ति भारत में ही हुई अनेक विद्वानों ने इसे स्वीकार भी किया है । "कल्पना विश्वास तथा प्रथाएँ यत्र-तत्र-सर्वत्र रूप से विद्यमान होती हैं । मूल कथा की उत्पत्ति का कोई एकमात्र केंद्र नहीं हो सकता । जहाँ मानव समाज की ये मूल प्रवृत्तियाँ क्रियाशील हो रही वहीं उसका उद्भव भी स्वत: ही हो गया था । लोककथा की उत्पत्ति भारत में ही हुई, हम नहीं मान सकते ।"[2] इस प्रकार लोककथा की उत्पत्ति के निष्कर्ष तक पहुँचना कठिन कार्य है, क्योंकि लोक साहित्य मौखिक परंपरा से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को गमन वाला साहित्य है । इसलिए इसे एक व्यक्ति अथवा एक समुदाय की रचना कहना भी उचित नहीं होगा। लोककथा मौखिक परंपरा के आधार पर लोक श्रुति के नाम से भी प्रख्यात हो गई है । "लोककथा वस्तुतः लोक की मौखिक अभिव्यक्ति है । यह साहित्य अभिजात्य, संस्कार शास्त्रीयता और पांडित्य की चेतना से शून्य होता है । यह किसी एक की कृति नहीं होती । परंपरा में मौखिक क्रम से यह अतीत से वर्तमान और वर्तमान से भविष्य में संचरण करता है । इसमें समूचे लोकमानस की प्रवृत्ति समाई रहती हैं ।"[3]

लोक साहित्य को समाज की आत्मा का प्रतिबिंब भी कहा जा सकता है क्योंकि लोक साहित्य में समाज की वास्तविक दिशा और दशा का वर्णन मिलता है । यदि समाज के स्वरूप को जानना हो तो सबसे पहले उसके लोक साहित्य को जानना अति आवश्यक होता है । लोक साहित्य ही लोक जीवन का दर्पण होता है । जिसमें हमारी विशाल लोक संस्कृति का पुनीत इतिहास प्रतिबिंबित हुआ है । "किसी भी देश के ऐतिहासिक, साहित्यिक, राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं आर्थिक जीवन की वास्तविकता को जानना हो तो लोक साहित्य ही प्रमाणिक आधार हो सकता है । जीवन के निश्चित और स्वभाविक रुप का दर्शन हमें लोक साहित्य में ही प्राप्त होता है ।"[4]

प्राचीन काल की मौलिकता, परंपरा ही लोक साहित्य का आधार बनी है। मौखिक परंपरा के आधार पर पीढ़ी-दर-पीढ़ी से चली आई कथाओं को लोक साहित्य के नाम से जाना जाने लगा। साहित्य क्रियाकलापों के आधार पर आज इसे काव्य का रूप देकर साहित्य विधाओं में ढाल दिया गया है। "मौखिकता प्राचीन युग का संकेत है। जबकि मौखिक वाणी या मौखिकता एकमात्र साधन थी, जिसकी सहायता से मानवता ने प्राकृतिक शक्तियों के विरूद्ध संघर्ष किया और आने वाली पीढ़ियों को अपना अनुभव सौंपा। लेखन कला तो बहुत बाद में विकसित हुई फिर वह प्रभु वर्ग में ही सीमित रह गई सामान्य जनता तो इससे वंचित ही रही। साहित्यिक क्रियाकलाप की सुविधाओं और संभावनाओं से वंचित जनता ने अपनी समस्त सृजनात्मक शक्ति और कलात्मक शिल्प को मौखिक काव्य में ढाल दिया।"[5]

लोककथा का आरंभ काल वेदों से ही प्राप्त होता है। जिसे वेदों में आख्यान और संवाद सूक्त आदि नामों से जाना जाता है। ऋग्वेद में शुन-शेप आख्यान एक प्रसिद्ध आख्यान रहा है। उसी प्रकार ऋग्वेद के तृतीय मंडल का विश्वामित्र-नदी संवाद और दसवें मंडल में यम-यमी, पूरूरवा-उर्वशी, सरमा-पणि आदि संवाद शूक्तों में लोककथा की अद्भुत झांकी दिखाई देती है। इसी प्रकार यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद में भी संवाद शूक्तों और आख्यानों के रूप में लोक कथाओं का वर्णन मिलता है। ब्राह्मण ग्रंथों में भी अनेक लोककथाएँ संग्रहित है। "शतपथ ब्राह्मण में पूरूरवा-उर्वशी की कथा, ताण्डव ब्राह्मण में च्वयन भार्गव और सुकन्या मानवी की कथा, ऐतरेय ब्राह्मण में शुन-शेप का आख्यान, शाटयान ब्राह्मण में महर्षि वृश नामक पुरोहित का आख्यान आदि का आधार तत्कालीन लोक में मौखिक प्रचलित कथाएँ ही हो सकती हैं।"[6]

लोककथाओं का प्रचलन वैदिक साहित्य में वेदों में और ब्राह्मण ग्रंथों के बाद उनसे साहित्य में भी प्रसिद्ध आख्यान और संवाद शुक्तों को लोककथा साहित्य के रूप में देखा जा सकता है। इस प्रकार वेदों में वर्णित आख्यान एवं संवाद सूक्त जनमानस के कल्याण के लिए महार्षियों द्वारा मंत्र उच्चारित एवं वर्णित किए गए। उपनिषद् ग्रंथों में अनेक ज्ञानवर्धक आख्यानों एवं संवाद शूक्तों का वर्णन मिलता है, जो संस्कृत लोक साहित्य के उद्भव के साथ-साथ उनके विकास क्रम में भी मजबूती देते हैं। "उपनिषद् साहित्य में कठोपनिषद् में नचिकेता की कथा, कनोपनिषद् में अग्नि और यक्ष की कथा, वृहदारण्योपनिषद् में याज्ञवल्क्य-गार्गी की कथा तथा देवासुर संग्राम की कथा, छन्दोग्य उपनिषद् में सत्यकाम-जावाली की कथा एवं श्वान कथा आदि कथाएँ लोक से ही ग्रहण की गई होगी।"[7]

लोककथा की मौखिक परंपरा में प्रचलित आख्यानों, गाथाओं एवं शूक्तों का संकलन करने वाले घराने प्राचीन भारत में ही विद्यमान थे। क्योंकि प्राचीन भारत में वेदों की महत्वता से लोककथा से लोक साहित्य का उद्भव होता है। वैदिक संस्कृत साहित्य में विरचित आख्यान गाथाएँ एवं संवाद सूक्त वर्तमान लोककथा में प्रचलित हो गए हैं। लौकिक संस्कृत साहित्य का वृहत् महाकाव्य महाभारत भी लोक आख्यानों से अछूता नहीं रहा है। महाभारत महाकाव्य में भी अनेक संवाद सूक्त मिलते हैं, जो लोक साहित्य के साथ साथ महाभारत को ओर अधिक विशाल बना देते हैं। "महाभारत न केवल इतिहास, धर्मशास्त्र एवं पुराण ही नहीं है अपितु उसके आख्यान, उपाख्यान, संवाद रूप में तत्कालीन समाज में प्रचलित लोक कथाओं का विशाल संकलन भी है। जिसके संग्राहक सूत्र थे।"[8]

महाभारत एक वृहताकार महाकाव्य है। जिसमें अनेक रूप और अंग है जो उसके वृहताकार का ओर अधिक महत्व बढ़ा देते हैं। महाभारत को अख्यानों एवं उपाख्यानों के साथ-साथ लोककथाओं का भी महाकाव्य कहा जा सकता है। क्योंकि इसमें अनेक ज्ञानवर्धक लोककथाएँ प्रचलित हैं। "महाभारत में सर्प कथा भी पाई जाती हैं- सर्प की दों जिह्वाएँ क्यों होती हैं? महाभारत में बकासुर वध कथा, हिडिंबा वध कथा, स्वर्णकमल कथा, शकुंतला उपाख्यान, नल-दमयंती कथा, द्रोणाचार्य-एकलव्य की कथा आदि लोककथाएँ ही तो है।"[9]

आज आधुनिक युग में हिंदी साहित्य अथवा अन्य साहित्य में भी लोक साहित्य को लिखा जा रहा है । परंतु लोक साहित्य का आधार हमारे वैदिक काल के ग्रंथ ही है। अनेक विद्वानों ने अनेक भाषाओं में लोक साहित्य को लिखा । वैदिक भाषा में रचित आख्यानों को अपनी भाषाओं में बदला न कि प्राचीन काल के प्रचलित आख्यानों को । क्योंकि प्राचीन काल के आख्यान वैसे के वैसे ही रहे जैसे वैदिक काल में प्रचलित थे । वैदिक काल के प्रचलित आख्यानों एवं संवाद सूक्तों को आधार बनाकर लौकिक साहित्य में अनेक संस्कृत विद्वानों ने संस्कृत ग्रंथों को लिखा गया । परंतु उनके आख्यान वैसे ही थे जैसे वैदिक काल के ज्ञानवर्धक व्याख्यान । वैदिक काल के ज्ञान भंडार को लोक साहित्य के माध्यम से संपूर्ण समाज के सामने रखा । इसी प्रकार वैदिक काल का वैदिक साहित्य में रचित प्रचलित आख्यान जिस प्रकार प्रसिद्ध रहे उसी प्रकार महाभारत महाकाव्य के अधिकतम आख्यानों एवं उपाख्यानों को आधार बनाकर अनेक कव्यों एवं महाकाव्यों की रचना भी की गई । वाल्मीकि कृत रामायण में वर्णित आख्यानों को आधार बनाकर अनेक काव्य और महाकाव्य की रचना की गई । वेदव्यास द्वारा रचित 'महाभारत' तथा वाल्मीकि द्वारा रचित 'रामायण' दोनों ही महाकाव्य लोककथा के लिए प्रसिद्धि ले रहे हैं । दोनों ही महाकाव्यों में अनेक प्रकार की लोककथाएँ जन समाज में प्रचलित थी । "वैदिक कथाओं का रूप पुराणों में, रामायण में, महाभारत में एवं परवर्ती लोक साहित्य में आने पर अवश्यमेव किंचित परिवर्तित हुआ । परंतु आख्यान वही रहा । तदनंतर रामायण और महाभारत तो परवर्ती कवियों के लिए उपजीव्य काव्य बन गए । इसमें से कथावस्तु लेकर तथा उस समय के समाज से जोड़कर साहित्य रचा जाने लगा ।"[10]

लोक में प्राचीन काल से ही लोकवाणी में पीढ़ी–दर–पीढ़ी मौखिक परंपरा में कथाएँ कही सुनी जाती रही है । गुणाढय ने भी ऐसे ही कथाओं को लोक व्यवहार में पैचासी प्राकृत भाषा में संग्रहित किया है । वृहत्कथा साहित्य में वर्णित लोक कथाएँ प्राचीन काल में लोक व्यवहार से संबंधित संवादों से परिपूर्ण थी । वैदिक काल के आख्यानों और संवाद सूक्तों को ओर अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए अनेक कवियों ने अनेक भाषाओं में संवादों को संग्रहित किया गया है । गुणाढ़य ने भी वृहत्कथा में अनेक लोक व्यवहार की कथाओं को संकलित करके और अधिक रोचक बनाया है । "गुणाढय ने लोक जीवन से जुड़ी कथाओं को रोचक एवं कुतूहलपूर्ण बनाने के लिए देव और मनुष्य के बीच एक कल्पना निर्मित विद्याधरों, किन्नरों एवं गंधर्वों की योनि की सृष्टि की हो या उस समय में कोई जातियाँ भी रही हो एवं यह भी संभव है कि यह कथाएँ जिस रूप में वृहत्कथा में संकलित हुई उस रूप में लोक व्यवहार में भी प्रचलित रहे हो । लोकजीवन वैसे भी अनेक समस्याओं, अभावों एवं कष्टों से ग्रस्त है । अतः मनोरंजन के लिए परी कथाएँ लोक व्यवहार में प्रचलित रही हो ।"[11]

संस्कृत साहित्य में लोक कथाओं की मौखिक परंपरा वृहत्कथा में संकलित कथाएँ जनजीवन से जुड़ी कथाएँ संकलित रही है परंतु इन कथाओं को आधार बनाकर अनेक कवियों ने काव्य की रचना की । "वृहत्कथा भारतीय साहित्य में सर्वाधिक लोकप्रिय रही है । इसे आधार बनाकर कई संस्कृत नाटक एवं कथा ग्रंथ रचे गए हैं ।"[12] संस्कृत के अनेक कवियों ने लोक जनमानस की कथाओं को अपने ग्रंथों में स्थान दिया है । संस्कृत साहित्य के कुलश्रेष्ठ उपमा कवि कालिदास ने अपने सभी ग्रंथों में लोक जीवन की कथाओं को संग्रहित किया है । महाभारत का प्रसिद्ध आख्यान शकुंतलोपाख्यान से अभिज्ञानशाकुंतलम् नामक नाटक की रचना की । जो संस्कृत साहित्य ही नहीं विश्व साहित्य का सर्वश्रेष्ठ नाटक माना जाता है । कालिदास द्वारा अन्य रचनाएँ मेघदूत खण्डकाव्यम्, ऋतुसंहार खण्डकाव्यम्, कुमारसंभव महाकाव्यम्, रघुवंश महाकाव्यम्, और मालतीमाधव नाटकम् और विक्रमोर्वशीय नाटकम् में सभी प्रचलित कथाओं को संकलित करके साहित्य को ओर अधिक प्रभावशाली और रोचक बनाया है । इसी प्रकार अनेक संस्कृत विद्वानों ने प्राचीन आख्यानों एवं लोक जीवन से जुड़ी कथाओं को अपने महाकाव्यों एवं नाटकों में संग्रहित किया गया है । आचार्य दण्डी का दशकुमारचरितम्, बाणभट्ट की कादंबरी कथा साहित्य, महाकवि शुद्रक का मृच्छकटिकम् नामक प्रकरण, महाकवि भारवि का किरातार्जुनीयम् महाकाव्यम्, श्रीहर्ष का नैषधीयचरितम् महाकाव्यम्, महाकवि माघ का

शिशुपालवधम् महाकाव्यम्, हर्षवर्धन की रत्नावली नाटिका, विष्णु शर्मा का विश्व प्रसिद्ध पंचतंत्र कथा साहित्य ग्रंथ, पंडित नारायण द्वारा विरचित हितोपदेश कथा साहित्य ग्रंथ और महाकवि भास द्वारा रचित नाटक आदि ग्रंथों में भी प्राचीन काल की लोक जीवन की कथाएँ एवं जनमानस में प्रचलित झांकियाँ स्पष्ट रूप से दिखाई देती है ।

लोक कथाओं पर आधारित आचार्य सोमदेव द्वारा रचित कथा साहित्य ग्रंथ कथासरित्सागर संस्कृत साहित्य का नहीं अपितु विश्व साहित्य का शिरोमणि ग्रंथ माना जाता है । आचार्य सोमदेव ने लोक व्यवहार से जुड़ी सभी लोक कथाओं को इस ग्रंथ में संकलित किया है । "कथासरित्सागर ऐसी कथाओं का आधार है जिसको पढ़ने के लिए गहन आनंद की अनुभूति होती हैं । जिसकी कथा कहने की शैली भी विचित्र है । जिसमें एक कथा से दूसरी कथा निकलती चली जाती है । आचार्य सोमदेव ने सरल एवं अकृत्रिम रहते हुए आकर्षण और सुंदर रूप से ऐसी-ऐसी कथाओं को बड़ी भारी संख्या में प्रस्तुत किया गया है ।"[13]

लोक कथाओं के प्रचलित कर्म में अनेक विद्वानों ने लोककथा साहित्य को तत्कालीन समाज का वास्तविक दर्पण भी माना है । क्योंकि साहित्य समाज का दर्पण होता है । साहित्य में अनेक लोक जीवन की प्रचलित झांकियाँ और पीढ़ी-दर-पीढ़ी चली आ रही मौखिक परंपराएँ भी समाज की पृष्ठभूमि का ज्ञान कराती हैं । संस्कृत साहित्य में अनेक परंपराएँ व लोक आधारित रीतियों का वर्णन साहित्य ग्रंथों में मिलता है । "कथासरित्सागर में पारंपरिक पीढ़ी-दर-पीढ़ी प्रचलित लोक विश्वास, धार्मिक विश्वास, रक्तपान करने वाले बेताल, प्रेम और मूर्खों से जुड़ी कथाएँ संग्रहित है । इसमें अद्भुत कथाओं और उसके साथी प्रेमियों, राजाओं, नगरों, राजतंत्र एवं षडयंत्र, जादू और टोने, छल और कपट, हत्या और युद्ध, रक्त पीने वाले बेताल, पिशाच, यक्ष और प्रेत, पशु-पक्षियों की सच्ची गढ़ी कहानियाँ और भीखमंगे साधु, पियक्कड़, जुवारी, वेश्या, विट, कुट्टनी इन सभी की कहानियाँ एकत्र हो गई है ।"[14]

लोककथा साहित्य लोक जनमानस का विशाल साहित्य हैं । इस साहित्य में जनमानस के संपूर्ण इतिहास का वास्तविक दर्शन देखने को मिलता है । आधुनिक युग में कुछ भारतीय विद्वानों और पाश्चात्य विद्वानों ने इस लोक साहित्य को गवार, ग्रामीण, असभ्य, अशिक्षित, अनपढ़ आदि शब्दों से इसको परिभाषित किया हो, परंतु यह वैसा साहित्य नहीं है । लोक साहित्य लोक जीवन की जीवंत एवं पुनीत विधा है । लोक साहित्य प्राचीन वैदिक साहित्य के संवाद सूक्तों और आख्यानों का सार अंश है । यदि वैदिक साहित्य असभ्य और औचित्य हीन साहित्य हो तो आज का लोक साहित्य भी वैसा ही माना जा सकता है । लोक साहित्य का शुद्धतम रूप श्रोताओं का मनोरंजन कराता और साथ ही प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप में उनका ज्ञान वर्धन भी कराता । लोक कथाएँ सुखांत होती थी । इसमें अद्भुत रस की प्रधानता होती और उत्सुकता एवं कुतूहल की सृष्टि करती । संस्कृत साहित्य की लोक कथाएँ तीन रूप में प्राप्त होती हैं- गद्यमय में रूप, पद्यमय में रूप और गद्यमय पद्यमय दोनों रूपों में । लोक कथाएँ पीढ़ी-दर-पीढ़ी की परंपराओं के रूप में गमन शील होती रही । आज इसको लिपिबद्ध किया जा रहा है ।

संदर्भ ग्रंथ सूची-

1. डॉ स्वर्णलता, लोक साहित्य विमर्श, रत्न स्मृति प्रकाशन बीकानेर, पृष्ठ सं- 41
2. डॉ प्रभाकर नारायण, संस्कृत साहित्य में नीति कथाओं का उद्भव एवं विकास, चौखंबा संस्कृत सीरीज वाराणसी, पृष्ठ सं- 120
3. रामप्रसाद दाधीच, राजस्थानी लोक साहित्य के अध्ययन के आयाम, जैन एँड संस जोधपुर, पृष्ठ सं- 04
4. डॉ स्वर्णलता, लोक साहित्य विमर्श, रत्न स्मृति प्रकाशन बीकानेर, पृष्ठ सं- 09
5. डॉ केसरी नारायण शुक्ल, रूसी लोक साहित्य, हिंदी समिति सूचना विभाग उत्तर प्रदेश, पृष्ठ सं- 03-04
6. डॉ गोपाल शर्मा, संस्कृत लोककथा में लोकजीवन, हंसा प्रकाशन जयपुर, पृ सं- 16

7. वही पृष्ठ सं– 16
8. वही पृष्ठ सं– 16
9. वही पृष्ठ सं– 16
10. वही पृष्ठ सं– 16
11. वही पृष्ठ सं– 17
12. वही पृष्ठ सं– 17
13. वही पृष्ठ सं– 24
14. वही पृष्ठ सं– 25

साहित्याकाश

साहित्य और संचार माध्यम

अखिलेश जैसल
शोध छात्र

डॉ. व्ही. डी. सूर्यवंशी
शोध निर्देशक
सहायक प्राध्यापक, हिंदी विभाग
म.स.गा. महाविद्यालय, मालेगाँव कैंप जि.नाशिक

शोध सार

हिंदी साहित्य के क्षेत्र में संचार माध्यम एक स्तम्भ के रूप में दिखाई देता है । आज पूरी दुनियाँ में हर एक साहित्यकार अपना साहित्य संचार माध्यम से जोड़ना चाहता है और अपने साहित्य को प्रचारित प्रसारित करने के लिए जनसंचार माध्यम से जोड़ देता है । हमारे दैनिक जीवन में संचार का अत्यंत महत्त्वपूर्ण है । वास्तव में संचार जीवन की निशानी है । मनुष्य जब तक जीवित रहता है, संचार करता रहता है । एक बालक भी रोकर या चिल्लाकर अपनी माता का ध्यान अपनी ओर खींचता है । जो बोल या सुन नहीं सकता वह भी सांकेतिक भाषा का प्रयोग करके संचार करता है । परिणाम स्वरूप यह कहा जा सकता है संचार खत्म होने का अर्थ मृत्यु है । संसार के प्रत्येक जीव आपस में संचार करते हैं लेकिन मनुष्य की संचार करने की क्षमता बाकी जीवों की तुलना में बहुत अलग व अच्छी है । मनुष्य के सामाजिक विकास में संचार की सबसे अधिक भूमिका रहती है ।

बीज शब्द– संचार, मानव, संस्कृति, आदि

संचार मनुष्य को एक–दूसरे से जोड़ता है । सभ्यता का विकास संचार व संचार के माध्यमों से जुड़ा हुआ है । मनुष्य के द्वारा भाषा एवं लिपि आदि का विकास किया है, जिसका मुख्य उद्देश्य संदेशो का आदान–प्रदान रहा है । संदेशो के आदान–प्रदान में लगने वाले समय और दूरी को कम करने के लिए ही संचार के माध्यमों की खोज की गई है । भविष्य में भी खोजे हुए माध्यमों को अपडेट करने का प्रयास लगातार ज़ारी रहेगा ।

संचार और जनसंचार के विभिन्न माध्यम जैसे– टेलीफोन, इंटरनेट, फ़ैक्स, समाचार पत्र, रेडियो, टेलीविज़न और सिनेमा आदि के ज़रिये व्यक्ति संदेशों का आदान–प्रदान कम समय में कर पाता है । संचार माध्यमों के विकास के साथ ही भौगोलिक दूरियाँ कम होने के साथ–साथ सांस्कृतिक और मानसिक रूप से भी लोग एक दूसरे के नज़दीक आ रहे हैं । परिणाम स्वरूप कुछ लोगों का मानना है कि वर्तमान में दुनिया गाँव में बदल रही है । आज कोई भी साहित्य हो चाहे हिंदी, अंग्रेजी, मराठी या अन्य भाषाओं का साहित्य हो, जिस प्रकार हिंदी सम्पर्क भाषा के रूप में अपना स्थान बनाती दिख रही है, वह शुभ संकेत है । हिन्दी के इस सामाजिक जुड़ाव का श्रेय हम सीधे–सीधे संचार माध्यमों को दे सकते हैं । हिन्दी में आज भार नहीं संस्कार और सरोकार भी मौजूद है । हिन्दी संचार माध्यमों ने विशेषकर दृश्य–जनसंचार माध्यमों ने हिन्दी की जो दिशा निर्धारित की है वह उसे विश्व की एक सम्पर्क भाषा बनाने के लक्ष्य तक पहुँच पाने में सहायक बनेगी ऐसा विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है । आज हिन्दी भाषा, अंग्रेजी की संप्रभुता को चुनौती देती हुई तथा अपनी दशा और दिशा को प्रमाणित करती हुई, सामाजिक ही नहीं, राजनैतिक सरोकारों की प्रमुख भाषा के रूप में न केवल भारत में बल्कि समूचे विश्व में अपना सम्मानजनक स्थान निर्धारित करती दिख रही है, उसका सीधा–साधा श्रेय हिन्दी साहित्य संचार माध्यमों को ही जाता है । संचार माध्यमों ने हिंदी साहित्य के वैश्विक रूप को गढ़ने में पर्याप्त योगदान दिया है । भाषाएँ संस्कृति की वाहक होती हैं और संचार माध्यमों पर प्रसारित कार्यक्रमों से समाज के

बदलते सच को हिंदी के बहाने ही उजागर किया गया । डिजिटल दुनिया में हिंदी साहित्य की माँग अंग्रेजी साहित्य की तुलना में पाँच गुना ज्यादा तेज है । भारत में हर पांचवा इंटरनेट प्रयोगकर्ता हिंदी साहित्य और हिंदी भाषा का उपयोग करता है । हिन्दी भाषा का विश्वस्तरीय साहित्य तथा साहित्यकार आदि का विशेष योगदान है ।

संचार क्या है?

संचार शब्द की उत्पत्ति 'चर' धातु से हुई है, जिसका अर्थ है– चलना या एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचना । 'संचार' से हमारा तात्पर्य दो या दो से अधिक व्यक्तियों के बीच सूचनाओं, विचारों और भावनाओं का आदान–प्रदान है । मशहूर संचारशास्त्री विल्बर श्रैम के अनुसार" संचार अनुभवों की साझेदारी हैं ।'

संचार के तत्व

संचार एक प्रक्रिया है । इस प्रक्रिया में कई तत्व शामिल हैं। इनमें से प्रमुख तत्व निम्नलिखित है–

1. **स्रोत या संचारक–** संचार–प्रक्रिया की शुरुआत 'स्रोत' या 'संचारक' से होती है। जब स्रोत या संचारक एक उद्देश्य के साथ अपने किसी विचार, संदेश या भावना को किसी और तक पहुँचाना चाहता है, तो संचार–प्रक्रिया की शुरुआत होती है । जैसे हमें किताब की जरूरत होने पर जैसे ही हम किताब माँगने की सोचते हैं, संचार की प्रक्रिया शुरू हो जाती है । किताब माँगने के लिए हम अपने मित्र से बातचीत करेंगे या उसे लिखकर संदेश भेजेंगे । बातचीत या संदेश भेजने के लिए हम भाषा का सहारा लेते हैं ।

2. **कूटीकृत या एनकोडिंग–** यह संचार की प्रक्रिया का दूसरा चरण है । सफल संचार के लिए जरूरी है कि आपका मित्र भी उस भाषा यानी कोड से परिचित हो जिसमें आप अपना संदेश भेज रहे हैं । इसके साथ ही संचारक का एनकोडिंग की प्रक्रिया पर भी पूरा अधिकार होना चाहिए । इसका अर्थ यह हुआ कि सफल संचार के संचारक का भाषा पर पूरा अधिकार होना चाहिए । साथ ही उसे अपने संदेश के मुताबिक बोलना या लिखना भी आना चाहिए ।

3. **संदेश–** संचार–प्रक्रिया में संदेश का बहुत अधिक महत्व है। किसी भी संचारक का सबसे प्रमुख उद्देश्य अपने संदेश को उसी अर्थ के साथ प्राप्तकर्ता तक पहुँचाना है। इसलिए सफल संचार के लिए जरूरी है कि संचारक अपने संदेश को लेकर स्वयं पूरी तरह से स्पष्ट हो । संदेश जितना ही स्पष्ट और सीधा होगा, संदेश के प्राप्तकर्ता को उसे समझना उतना ही आसान होगा ।

4. **माध्यम (चैनल)–** संदेश को किसी माध्यम (चैनल) के जरिये प्राप्तकर्ता तक पहुँचाना होता है । जैसे हमारे बोले हुए शब्द ध्वनि तरंगों के जरिये प्राप्तकर्ता तक पहुँचते हैं, जबकि दृश्य संदेश प्रकाश तरंगों के जरिये । इसी तरह वायु तरंगों के जरिये भी संदेश पहुँचते हैं । जैसे खाने की खुशबू हम तक वायु तरंगों के जरिये पहुँचती है । स्पर्श या छूना भी एक तरह का माध्यम है । इसी तरह टेलीफ़ोन, समाचार पत्र, रेडियो, टेलीविजन, इंटरनेट और फ़िल्म आदि विभिन्न माध्यमों के जरिये भी संदेश प्राप्तकर्ता तक पहुँचाया जाता है ।

5. **प्राप्तकर्ता या रिसीवर–** यह प्राप्त संदेश का कूटवाचन अर्थात उसकी डीकोडिंग करता है। डीकोडिंग का अर्थ है प्राप्त संदेश में निहित अर्थ को समझने की कोशिश। यह एक तरह से एनकोडिंग की उलटी प्रक्रिया है। इसमें संदेश का प्राप्तकर्ता उन चिहनों और संकेतों के अर्थ निकालता है । जाहिर है कि संचारक और प्राप्तकर्ता दोनों का उस कोड से परिचित होना जरूरी है ।

6. **फीडबैक–** संचार–प्रक्रिया में प्राप्तकर्ता की इस प्रतिक्रिया को फीडबैक कहते हैं । संचार–प्रक्रिया की सफलता में फ़ीडबैक की अहम भूमिका होती है । फ़ीडबैक से ही पता चलता है कि संचार–प्रक्रिया में कहीं कोई बाधा तो नहीं आ रही है । इसके अलावा फ़ीडबैक से यह भी पता चलता है कि संचारक ने जिस अर्थ के साथ संदेश भेजा था वह उसी अर्थ में प्राप्तकर्ता को मिला है या नहीं? इस फ़ीडबैक के अनुसार ही संचारक अपने संदेश में सुधार करता है और इस तरह संचार की प्रक्रिया आगे बढ़ती है ।

7. शोर– संचार प्रक्रिया में कई बाधाएँ भी आती हैं । इन बाधाओं को शोर (नॉयज) कहते हैं। संचार की प्रक्रिया को शोर से बाधा पहुँचती है । यह शोर किसी भी किस्म का हो सकता है । यह मानसिक से लेकर तकनीकी और भौतिक शोर तक हो सकता है । शोर के कारण संदेश अपने मूल रूप में प्राप्तकर्ता तक नहीं पहुँच पाता । सफल संचार के लिए संचार प्रक्रिया से शोर को हटाना या कम करना बहुत जरूरी है ।

संचार के प्रकार

संचार विभिन्न प्रकार के होते हैं, पर वे परस्पर काफी मिले–जुले होते हैं । इन्हें अलग करके देखना कठिन होता है । संचार के निम्नलिखित रूप हैं–

1. सांकेतिक संचार– जब हम किसी व्यक्ति को संकेत या इशारे से बुलाते हैं तो इसे सांकेतिक संचार कहते हैं । अपने से बड़ों को प्रणाम करते हुए हाथ जोड़कर प्रणाम करना मौखिक संचार का उदाहरण है । मौखिक संचार के समय चेहरे और शरीर के विभिन्न अंगों की मुद्राओं की मदद ली जाती है । खुशी, प्रेम, डर आदि अमौखिक संचार द्वारा व्यक्त किया जाता है ।

2. अंत:वैयक्तिक (इंटरपर्सनल) संचार– जब हम कुछ सोच रहे होते हैं, कुछ योजना बना रहे होते हैं या किसी को याद कर रहे होते हैं तो यह भी एक संचार है । इस संचार–प्रक्रिया में संचारक और प्राप्तकर्ता एक ही व्यक्ति होता है । यह संचार का सबसे बुनियादी रूप है । इसे अंत:वैयक्तिक (इंट्रपर्सनल) संचार कहते हैं । हम जब पूजा, इबादत या प्रार्थना करते वक्त ध्यान में होते हैं तो वह भी अंत:वैयक्तिक संचार का उदाहरण है । किसी भी संचार की शुरुआत यहीं से होती है ।

3. समूह संचार– इस संचार में हम जो कुछ भी कहते हैं, वह किसी एक या दो व्यक्ति के लिए न होकर पूरे समूह के लिए होता है । समूह संचार का उपयोग समाज और देश के सामने उपस्थित समस्याओं को बातचीत और बहस–मुबाहिसे के जरिये हल करने के लिए होता है । संसद में जब विभिन्न मुद्दों पर चर्चा होती है तो यह भी समूह संचार का ही एक उदाहरण है ।

4. जनसंचार– जब हम व्यक्तियों के समूह के साथ प्रत्यक्ष संवाद की बजाय किसी तकनीकी या यॉँत्रिक माध्यम के जरिये समाज के एक विशाल वर्ग से संवाद कायम करने की कोशिश करते हैं तो इसे जनसंचार कहते हैं । इसमें एक संदेश को यॉँत्रिक माध्यम के जरिये बहुगुणित किया जाता है ताकि उसे अधिक से अधिक लोगों तक पहुँचाया जा सके । इसके लिए हमें किसी उपकरण या माध्यम की मदद लेनी पड़ती है–मसलन अखबार, रेडियो, टी.वी., सिनेमा या इंटरनेट। अखबार में प्रकाशित होने वाले समाचार वही होते हैं लेकिन प्रेस के जरिये उनकी हजारों–लाखों प्रतियाँ प्रकाशित करके विशाल पाठक वर्ग तक पहुँचाई जाती हैं ।

साहित्य और संचार माध्यम का अंतःसंबंध

संचार माध्यम ने आधुनिक विकास के समय और दूरी की सीमा को कम कर दिया हैं । आज के युग में साहित्य और संचार माध्यम का अंतरसंबंध एक अनोखा सम्बन्ध बन जाता हैं जो साहित्य की हर विधा को जन– जन तक पहुँचाने का कार्य करता हैं । रेडियो, TV, इंटरनेट और अखबार–जनसंचार के इन माध्यमों का उपयोग समाचारों की प्रस्तुति के लिए भी होता है । केवल समाचारों की बात करे तब भी हमारे सामने यह स्पष्ट होता चला जाता है कि इन माध्यमों से मुद्रित प्रसारित समाचारों के लेखन और प्रस्तुत है और देखे चुने गए समाचारों की लेखन शैली भाषा और इनकी प्रस्तुति में अंतर है । पढ़ें सुने और देखें सुने गए समाचारों की लेखन शैली भाषा और प्रस्तुति में इस अंतर की पहचान आवश्यक है ।

उपसंहार

उपर्युक्त तथ्यों के माध्यम से साहित्य और संचार माध्यम का एक विशेष सम्बन्ध रहा हैं जिसे हम लोग साहित्य की विधाओं में देख सकते हैं । जनसंचार माध्यमों में द्वारपाल की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण मानी जाती है । यह उनकी ही जिम्मेदारी है

कि वे सार्वजानिक हित, पत्रकारिता के सिद्धांतों, मूल्यों और आचार संहिता के अनुसार सामग्री को संपादित करें और उसके बाद ही उनके प्रसारण या प्रकाशन की इजाजत दें ।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची –

1. https://sahityanazm.com/summary-review-janasanchaar-maadhyam-class-11/
2. https://www.thecore.page/2019/09/drshy-janasanchaar-maadhyamon-l9odnF.html
3. https://hi.unionpedia.org/%E0%A4%B9%E0%A4%BF%E0%A4%A8%E0%A5%8D%E0%A4%A6%E0%A5%80_%E0%A4%95%E0%A5%87_%E0%A4%B8%E07%A4%82%E0%A4%9A%E0%A4%BE%E0%A4%B0_%E0%A4%AE%E0%A4%BE%E0%A4%A7%E0%A5%8D%E0%A4%AF%E0%A4%AE
4. https://www.cbsetuts.com/ncert-solutions-for-class-11-hindi-core-janasanchaar-maadhyam-aur-lekhan-janasanchaar-maadhyam/
5. संचार और संचार माध्यम – डॉ चंद्रप्रकाश मिश्र – संजय प्रकाशन
6. https://www.hindikeguru.com/2021/12/vibhinn-madhyam-ke-liye-lekhan.html
7. http://iimc.nic.in/content/Hindi/231_1_SancharMadhyamHindi.aspx
8. https://zietchandigarh.kvs.gov.in/sites/default/files/%E0%A4%85%E0%A4%AD%E0%A5%8D%E0%A4%AF%E0%A4%BE%E0%A4%B8%20%E0%A4%85%E0%A4%AD%E0%A4%BF%E0%A4%B5%E0%A5%8D%E0%A4%AF%E0%A4%95%E0%A5%8D%E0%A4%A4%E0%A4%BF%20%E0%A4%94%E0%A4%B0%20%E0%A4%AE%E0%A4%BE%E0%A4%A7%E0%A5%8D%E0%A4%AF%E0%A4%AE.pdf

साहित्याकाश

साहित्य में नारी का स्थान एवं भूमिका

प्रो. वडगे वृषाली रंगनाथ
(हिंदी विभाग)
महाराजा सयाजीराव गायकवाड कला, विज्ञान
एवं वाणिज्य महाविद्यालय मालेगाँव कैंप, नाशिक
मोबाईल नंबर. 9156073445
Email ID – vrushaliwadge@gmail.com

शोध सारांश :

हिंदी साहित्य में नारी को विशेष महत्व दिया गया हैं । नारी जीवन को हिंदी साहित्य के अंतर्गत बहुत ही विशेष रूप से प्रस्तुत किया हैं । मनुष्य के जीवन में नारी का स्थान बेहद जटिल और विशिष्ट कहा जाता हैं । वर्तमान युग में महिला सशक्तिकरण को अधिक महत्व प्राप्त होता दिखाई दे रहा हैं, आज नारी को सबका केंद्र माना जा सकता हैं । साहित्य के क्षेत्र में नारी विशेष चिंतन का बन गई हैं तथा नारी जीवन पर काफी मात्रा में लेखन किया गया हैं । आज की नारी देवी और जगत जननी से मुक्त होकर एक मानवीय रूप में समाज में स्थान चाहती है, उसे अपने अधिकार प्राप्त हो तथा वह स्वयं निर्णय ले सके । स्त्री की वास्तविक लड़ाई नारी मुक्ति हैं, क्योंकि वह आज भी अपने अस्तित्व की सुरक्षा के लिए परंपरागत मूल्यों से लड़ रही हैं । किंतु धीरे–धीरे समय परिवर्तित होते हुए स्त्री आत्मनिर्भर बन रही हैं । वह हर क्षेत्र में कंधे से कंधा मिलाकर विकास की राह पर चल रही हैं । समाज को आगे बढ़ाने में स्त्री अर्थात नारी का महत्वपूर्ण स्थान हैं । हमारी संस्कृति पुरुष–प्रधान होने के कारण नारी को पहले विशेष महत्व प्राप्त नहीं था । पुरुषों द्वारा बनाए गए मूल्यों पर उसका मूल्यांकन किया जाता था । नारी को हम कई रूपों में देख सकते हैं, जैसे सीता, जो पुरुष–प्रधान व्यवस्था को पूर्णतः स्वीकार कर किसी प्रश्न पर आवाज नहीं उठाती और दूसरी ओर द्रौपदी हैं जो अपने स्वाभिमान का परिचय देती है और अपने समक्ष सभी बुद्धिजीवों से प्रश्न पूछती हैं ।

बीज शब्द– नारी, सशक्तीकरण, दलित, साहित्य, उपन्यास आदि ।

आंबेडकर जी ने कहा हैं की, 'नारी दलितों में भी दलित हैं' अर्थात दलितों के अधिकार छीनकर केवल कर्तव्य शेष रहा, उसी प्रकार स्त्री को भी केवल कर्तव्य करने के लिए बाध्य होना आवश्यक होता था । उसके अपने अधिकार तक शेष नहीं रहे थे । महात्मा ज्योतिबा फुले इन्होंने स्त्रियों के लिए शिक्षा के दरवाजे खोल दिए, इससे उनका स्वाभिमान उभरने लगा । स्त्री अपने जीवन को नई दृष्टि से देखने लगी । इन सभी बातों को देखते हुए साहित्य के अंतर्गत स्त्रियों के जीवन को किस प्रकार लिखा गया है, यह जानना आवश्यक हैं ।

चाक (उपन्यास) : मैत्रेयी पुष्पा अपने व्यक्तिगत जीवन और लेखन में पुरुष प्रधान समाज से सीधे–सीधे टक्कर लेती हैं । जो स्त्री को समानता के हक से वंचित करते हैं, ऐसे समाज की जड़ों को उखाड़कर फेंक देना चाहती हैं । चाक उपन्यास की रेशम अपने फौजी पति कर्मवीर को बेहद प्यार करती हैं और पूर्ण रूप से न्योछावर थी । रेशम के माध्यम से लेखिका नए नैतिक मूल्यों की स्थापना करती हैं । रेशम अपने जेठ से विवाह के प्रस्ताव को अस्वीकार करके नैतिकता के उच्च मानदण्डो का अनुसरण करती हैं । रेशम निर्भीक साहसी और नैतिक गुणों से संपन्न है । रेशम की क्रांतिकारी सोच उसकी हत्या का कारण बन जाती हैं । महिलाओं के

पक्ष में समाज में बुनियादी बदलाव वाले विचारों के लिए रेशम जैसी स्त्री को बलिदान देना ही पड़ेगा मगर ऐसे बलिदान व्यर्थ नहीं जाते ।

एक पत्नी के नोट्स (उपन्यास) : यह उपन्यास ममता कालिया का एक महत्वपूर्ण उपन्यास हैं । नारी जीवन को केंद्र में रखकर लिखे गए इस उपन्यास में पुरुष के रूप में मानसिकता को उजागर करने का प्रयास किया गया हैं । समाज पुरुषप्रधान होने के कारण पुरुष ये चाहता हैं, कि स्त्री उसके अनुरूप ही बर्ताव करें । इस उपन्यास से लेखिका का यह उद्देश्य हैं, कि स्त्री जीवन के व्यक्तिगत और लंबे तथा जानलेवा संघर्ष को अभिव्यक्ति देना । इस उपन्यास में लेखिका ने निम्न मध्यवर्गीय सुशिक्षित सुसंस्कृत नारी के मानसिकता का बड़ी सूक्ष्मता से चित्रण किया हैं । इस उपन्यास में एक सुशिक्षित पुरुष की रुग्न मानसिकता दिखाई गई हैं । पति अपने अहंकार अक्खड़पन तथा उच्चताबोध से पत्नी को नीचा दिखाता हैं और उसकी प्रत्येक इच्छा का अनादर करता हैं ।

लडकियाँ (लघु उपन्यास) : ममता कालिया के इस उपन्यास में मुंबई जैसे महानगर में अकेली रहने वाली प्रबुद्ध और अविवाहित कामकाजी लड़कियों के मर्मस्थल की रिपोर्ट प्रस्तुत करती हैं । इसके अतिरिक्त विज्ञापन जगत में चल रहे प्रतियोगिता, महानगर में बढ़ती महंगाई, आवास, पानी की समस्या, बिजली की परेशानी आदि बातों पर भी दृष्टिक्षेप किया गया हैं । नारी की अतरंग गहराई, परेशानी, मानसिक द्वंद्व, बेचैनी और आत्मविश्वास का भी बड़ा ही सजीव और यथार्थ चित्रण हैं । इस उपन्यास में नायिका अपने प्रतिभा और काबिलियत के द्वारा अपने गंतव्य तक पहुँचने में दृढ़ विश्वास रखती हैं । अकेली होकर भी वह शौर्य और पराक्रम से परिस्थितियों का कड़ा मुकाबला कर अपने सहयोगी की सुरक्षा करने का कड़ा दुस्साहस करती हैं । इस रचना में एक प्रबुद्ध नारी की मानसिकता को उजागर करने का सफल प्रयास दिखाई देता हैं ।

विजन (उपन्यास) मैत्रेयी पुष्पा द्वारा लिखित इस उपन्यास में चिकित्सा जैसे बौद्धिक क्षेत्र में काम कर रही स्त्रियों की इस क्षेत्र के पुरुषों द्वारा होने वाली अवहेलना को उजागर करना विजन उपन्यास का उद्देश्य हैं । डॉ. आभा तथा डॉ. नेहा शरण के माध्यम से लेखिका ने यह बताना चाहा हैं, कि वास्तव में स्त्रियों में बौद्धिक क्षमता की कोई कमी नहीं होती बौद्धिकता में वे पुरुष को भी पीछे छोड़ सकती हैं । वर्तमान में विभिन्न परीक्षाओं के फल इसका प्रमाण हैं । परंतु इसमें पुरुष समाज बौखला सा गया हैं । जीवन की होड़ में पीछे पिछड़ जाने के डर से वह स्त्रियों को हर प्रकार से पीछे धकेलना चाहता हैं । कभी उस पर जबरदस्ती मातृत्व लादकर तो कभी उसे अवसर से वंचित करके और कभी अपने पद का दुरुपयोग करके लेकिन स्त्रियाँ हर चुनौती को स्वीकार करने में सक्षम हैं ।

मैं, फूलमती और हिजड़े (कहानी संग्रह) : उर्मिला शुक्ला द्वारा लिखित इस कहानी संकलन में उन्होंने स्त्री की पीड़ा और उसके जीवन की विडंबनाओ के व्रत में खामोशी से प्रवेश किया हैं । लेखिका की संवेदना मध्यवर्ग और श्रमजीवी वर्ग के प्रति विशेष रूप से हैं । मध्यवर्ग की पढ़ी-लिखी साधन संपन्न स्त्री की त्रासदी और उसके जीवन की विडंबनाओ को वे विश्वसनीयता से व्यक्त करती हैं । कथा नायिका सीमा शर्मा और फूलमती की जीवन दृष्टि में स्वायत्तता हासिल करने के ताप और साहस में खास अंतर हैं । पढ़ी-लिखी नौकरी पेशा होकर भी सीमा अपने पति के गर्हित इरादे और व्यवहार का सीधा विरोध नहीं कर पाती । पति अपने व्यावसायिक लाभ के लिए पत्नि का इस्तेमाल करना चाहता हैं । श्रमजीवी औरतें तो एक और गरीबी की मार को झेलती हैं और दूसरी और पुरुष की वर्चस्ववादी प्रवृत्ति को भी । उर्मिला का जोर पुरुष द्वारा रचे गए प्रवंचनापूर्ण वितान के बीच स्त्री को चित्रित करने पर हैं ।

सिलिया (कहानी) : सुशीला टाकभौरे द्वारा लिखित यह विशिष्ट कहानी हैं । कहानी की नायिका सवर्ण पुरुष मानसिकता को पहचानकर अन्याय अत्याचार के खिलाफ आवाज उठाती हैं । नकार की भूमिका में खड़ी होकर वह संवेदनहीन सवर्ण मानसिकता को शर्मसार कर देती हैं । सिलिया आत्मसम्मान की उष्मा से पिघलती हीनता की बर्फ की कथा हैं । सुशीला टाकभौरे लिखित

सिलिया कहानी में यह दिखाई देता हैं, कि आजादी के बाद का दलित समाज स्त्रियों के पढ़ने पर अब जोर दे रहा है। यदि उन्हें पढ़ने का अवसर दिया जाए तो वह अपनी योग्यता स्थापित कर सकती हैं ।

अकेली (कहानी) : मन्नू भंडारी द्वारा लिखित इस कहानी में बूढ़ी सोमा बुआ जो बहुत अकेली और परितक्त्या हैं । सोमा बुआ अपना एकमात्र जवान बेटा खो चुकी हैं और पति भी । बेटा मृत्यु का ग्रास हो गया और पति पुत्र शोक में सन्यासी हो गए हैं । उसके जीवन के अकेलेपन को दूर करने के लिए उसका अपना कोई सगा संबंधी नहीं हैं । यह कहानी सोमा बुआ के अकेलेपन के साथ–साथ संबंधहीनता की भी हैं । उसके पति ने संन्यास ले लिया था, उसका बुआ के साथ कोई प्रेम और भावनाओं का रिश्ता नहीं था । इस कारण जब साल में एक बार एक महीने के लिए घर आते तो वह समय सोमा बुआ के लिए प्रसन्नता का न होकर और भी कष्ट से भरा होता हैं । मन्नू भंडारी ने इस कहानी में स्त्री जीवन की अनेक विडंबनाओ के चित्र प्रस्तुत किए हैं । संबंधों के तनाव को अलग रूप में उभरा है । इस कहानी में मनु जी ने यह बात स्पष्ट की हैं कि मनुष्य में आत्मसम्मान होता है ,जिसके बिना उसके जीवन का कोई महत्व नहीं होता जिसके पास आत्मसम्मान नहीं हैं अथवा जिस किसी मजबूरी से उसे खोना पड़ता हैं, उसका जीवन बड़ा ही कष्टदायी होता हैं ।

निष्कर्ष :

हिंदी साहित्य में नारी की भूमिका विविधता से भरी हुई हैं । कई कहानियों ,कविताओं ,उपन्यासों और नाटकों में नारियों को महत्वपूर्ण और प्रभावशाली चरित्रों के रूप में प्रस्तुत किया गया हैं। वे अक्सर समाज में स्थान और पहचान की खोज में होती हैं, और अपने व्यक्तित्व और सामाजिक परिस्थितियों के साथ निपटने के लिए प्रेरित करती हैं। नारी को समाज में उच्च स्थान और सम्मान प्राप्त करने की लड़ाई और उसके अधिकारों की मांग इन साहित्यों में अक्सर दर्शायी जाती हैं । हिंदी साहित्यकारों ने अपने साहित्य में नारी की कसमसाहट, छटपटाहट, कामकाजी नारी के दोहरी भूमिका आदि प्रश्नों को उकेरा हैं । स्त्री शक्ति की स्रोत होकर भी शक्तिहीन की तरह सब कुछ सह लेती हैं । उसपर अत्याचार होता हैं, शोषण किया जाता हैं, उसे केवल भोग्य वस्तु समझा जाता हैं । इन साहित्यों में सामाजिक, पारिवारिक और मानवीय जीवन का खोखलापन दिखाया हैं । नारी के प्रति देखने का दृष्टिकोण बदलने या मानसिकता बदलने और उसे मानव समझकर बराबरी का हक और अधिकार देना यही इन साहित्यकारों का आग्रह हैं । यहाँ हर साहित्य में नारी शोषण को दिखाया गया हैं, उसका शोषण का स्वरूप सिर्फ बदल रहा हैं । आधुनिक स्त्री जीवन चक्की में पिसती हुई वह गीत गा रही हैं, "अगले जनम मोहे बिटिया न कीजो"

इस तरह हिंदी साहित्य के अंतर्गत अलग–अलग रूपों में नारी की भूमिका को वर्णित किया गया हैं । इन नारियों का जीवन सामाजिक तथा पारिवारिक स्तर पर ही अधिक मात्रा में दिखाया गया हैं । साहित्यकारों का नारी के भावों को स्पष्ट करना ही उनके साहित्य का उद्देश्य रहा हैं ।

संदर्भ ग्रन्थ सूची :

1) साठोत्तरी हिंदी कथा साहित्य : स्त्री विमर्श, डॉ. अनीता नेरे, डॉ. योगिता हिरे, शांति प्रकाशन, रोहतक, हरियाणा

2) बयान (हिंदी मासिक) अंक 85 , संपादक–मोहनदास नैमिशराय ,नई दिल्ली .

3) अक्षर पर्व(साहित्यिक–वैचारिक मासिक) अंक 05,संपादन– सर्वमित्र सुरजन ,नई दिल्ली .

4) कथाधारा –संपादक– डॉ. अनीता नेरे, डॉ. अशोक धुलधुले, जगतभारती प्रकाशन, दूरवाणीनगर, अलाहाबाद.

5) आधुनिक हिंदी कथा साहित्य, कालजयी हिंदी कहानी, संपादक –रेखा सेठी–रेखा उत्प्रेती

प्रो. सदानंद भोसले द्वारा अनूदित 'घुमक्कड़ी' में मधुमेह का चित्रण

डॉ. सोनकांबले अरुण अशोक

सहायक प्राध्यापक ,हिंदी विभाग

किसन वीर महाविद्यालय ,वाई

पिन कोड – 412803

मो.नं. 9503007853

ई–मेल – arunsonkamble765@gmail.com

शोध सारांश

घुमक्कड़ी में मानव शरीर से संबंधित मधुमेह बीमारी का सांगोपांग विवेचन किया है । वर्तमान युग में दुनिया में इस बीमारी के बारे में अनेक गलतफहमियाँ है । लोग इन मरीजों को डराने वाली सलाह देते हैं और इस कारण से वह ज्यादा परेशान होते हैं । लेकिन प्रसिद्ध लेखक उत्तम कांबले ने घुमक्कड़ी इस स्तंभालेख में मधुमेह को एक नई जीवनशैली को अपनाकर इस बीमारी पर विजय प्राप्त कर सकते हैं । शरीर और मन को प्रसन्न, ताजा और सेहतभरा रखना चाहते हैं तो व्यायाम जरुरी है । नियमित व्यायाम से मधुमेह बीमारी को हम जड़ से ख़त्म कर सकते हैं । प्रस्तुत शोध–प्रपत्र श्रेष्ठ अनुवादक प्रो. सदानंद भोसले द्वारा अनूदित घुमक्कड़ी पर आधारित है ।

कूटशब्द– मधुमेह, मरीज, व्याधि, बीमारी, देहमंदिर, लावारिस, शुगर, डायबिटीज, ग्लूकोमीटर, किडनी, कविता और डिप्रेशन ।

प्रस्तावना

मराठी साहित्य के सुप्रसिद्ध लेखक एवं पत्रकार सकाळ समाचारपत्र के संपादक उत्तम कांबले द्वारा लिखित 'फिरस्ती' का श्रेष्ठ अनुवादक प्रो. सदानंद भोसले द्वारा हिंदी में घुमक्कड़ी नाम से अनुवाद हुआ है । अनुवाद यह पुनःकथन होता है । अनुवाद में सबसे कठिन अनुवाद साहित्यानुवाद है । उत्तम कांबले ने घुमक्कड़ी में लोगों की उन समस्याओं को सामने रखा है जिसमें उपाय भी सुझाएँ हैं । 'सकाळ' समाचार पत्र में हर रविवार सप्तरंग में एक आलेख प्रकाशित होता था । लोगों की मांग भी बड़े पैमाने पर थी कि इस आलेख को बंद न करें । यह बंद न करने के पीछे एक कारण था कि यह उन लोगों के बारे में लेखन कर रहे थे जिनको अब तक केवल सुना था पर घुमक्कड़ी के माध्यम से वह लिखित रूप में सामने आ रहा था । घुमक्कड़ी में मनुष्य की सेहत का भी काफी ध्यान रखा गया है । यह 49 लेखों का संग्रह 'फिरस्ती' शीर्षक से 25 जुलाई 2012 को मनोविकास प्रकाशन, पुणे द्वारा प्रकाशित हुआ । अनुवादक प्रो. सदानंद भोसले ने बहुत गहराई से प्रस्तुत कृति का मराठी से हिंदी में 'घुमक्कड़ी' नाम से अनुवाद किया है । इसे आर. के. पब्लिकेशन मुंबई द्वारा प्रकाशित किया है । 'सर सलामत तो पगड़ी पचास' इस कहावत को लेकर उत्तम कांबले ने घुमक्कड़ी में प्रत्यक्ष रूप में दिखाया है । 'देहमंदीर के लिए कसरत और लावारिस चाय' इस आलेख में वर्तमान युग में सबसे जटिल बीमारी जो अनेक घरों में अत्यंत नजदीकता से दिखाई दे रही है, उसका नाम है– डायबिटिज या मधुमेह । लोक–मानस में डायबिटिज मधुमेह को लेकर काफी नफरत और अनजानी है । किसी भी बीमारी को हम जड़ से ख़त्म कर सकते हैं, उसके लिए हमारी जीवनशैली में बदलाव लाकर । किसी भी बीमारी को ख़त्म करने के लिए अपने पास आत्मविश्वास होना चाहिए। आत्मविश्वास के बिना हम हमारे शरीर को चुस्त–तंदुरुस्त नहीं बना सकते । सभी बीमारियों की जड़ हमारी मानसिकता है ।

घुमक्कड़ी को पढने के बाद समझ में आता है कि मधुमेह के मरीज घबराएँ नहीं बल्कि उसे सही तरीके से स्वीकार कर उसका स्वागत हर्ष के साथ करना चाहिए । यह भाव उत्तम कांबले के 'देहमंदीर के लिए कसरत और लावारिस चाय' पाठ के माध्यम से अध्यनोपरांत दृष्टिगोचर होता है । मधुमेह यह बीमारी स्वयं लेखक को भी है और स्वयं अपने सत्रह–अठारह साल के पुत्र चार्वाक को भी यानी घर से ही इस बीमारी का अनुभव लेखक को होता है । प्रस्तुत पाठ में मधुमेह के सकारात्मक पक्ष के साथ नई जीवनशैली के बारे में जानकारी प्रदान की गई है ।

मधुमेह को लेकर आम लोगों में एक गलतफहमी है कि इससे मनुष्य की कभी भी मृत्यु हो सकती है । लेकिन ऐसा नहीं है । मधुमेह वाले मरीजों को उल्लू किस तरह से बनाया जाता है इसका अंकन घुमक्कड़ी में किया है । इस बीमारी से छुटकारा पाने के अनेक उपाय बगैर पूछे लोग बताते हैं । इसका वर्णन करते हुए लेखक ने लिखा है– "चप्पल बदलते रहो ,मोज़े भी बदलते रहो, चश्मे भी बदलते रहो... दिमाग को ठंडा करके देखो... आहार को मापने के लिए टोला–मासा से ग्राम तक परिमाण का प्रयोग करो... तैरने के लिए जाइए... दौड़ने जाइए... जेब में शुगर रखो... कडवी बात मत करो... जिह्वा पर चीनी रखो... नियमित रूप से चीनी की जांच करो, हो सके तो ग्लूकोमीटर साथ में रखो, आँखों और किडनी की हिफाजत करो... पाँव के तलवे का ज्यादा ध्यान रखो... नटी का चेहरा जितना महत्वपूर्ण होता है, उतना ही हमारे पाँव का तलवा... तंग कपडे मत पहनो... भारी चप्पल मत पहनो... डायबिटिज एक व्याधि नहीं है, वह तो व्याधियों की गैंग लेकर घूमता है आदि–आदि..."[1] उपर्युक्त उद्धरण से ज्ञात होता है कि जिनको मधुमेह की बीमारी होती है तो मरीज के आस–पड़ोस के लोग विभिन्न प्रकार की सलाह देते हैं । क्या पहनना चाहिए क्या नहीं, तैरने की, दौड़ने की, जेब में शुगर रखने की, कडवी बात न करने की, आँख और किडनी की हिफाजत करने की, साथ ही तंग कपडे न पहनने की सलाह दी जाती है । मधुमेह केवल एक व्याधि ही नहीं वह उसकी गैंग लेकर घूमता है से मतलब ऐसा मरीज अनेक बीमारियों को हमेशा साथ में लेकर घूमता है । आमतौर पर देखा जाता है कि मधुमेह के मरीज को इस बीमारी से ज्यादा उन सलाह देने वाले लोगों से खतरा होता है । जिनके द्वारा हमेशा मरीज को डराया जाता है । इससे मरीज हमेशा डर के माहौल में जीते रहते हैं । कोरोना जैसी महामारी में भी इन मरीजों को काफी डराया गया कि मधुमेह के मरीज और अन्य रोगियों के साथ सौतेला व्यवहार करते हुए नजर आए । इन लोगों की मानसिकता किस तरह से होती है, इस लोकभावना को अपने स्तंभालेख के माध्यम से लोगों तक पहुँचाया है । इस डर को लेखक ने आम जनता के मन से निकालने का प्रयास किया है ।

लेखक एक कार्यक्रम में मराठी भाषा के प्रसिद्ध कवि वसंत बापट के साथ खाना खा रहे थे उस समय लेखक ने अपना स्वयं का खाना गिनकर ही लिया उस समय वसंत बापट गुलाब जामुन खाने लगे और लेखक का खाना देखकर कहने लगे– "अरे डरो मत, कविता करने में और डायबिटीज में मैं तुम्हारा वरिष्ठ हूँ । देख मैं किस तरह से प्रहार कर रहा हूँ..."[2] प्रस्तुत उद्धरण से ज्ञात होता है कि मधुमेह कोई बड़ी बीमारी नहीं है । किसी भी बीमारी से डरना नहीं बल्कि उसके खिलाफ लड़ना है । लेखक उत्तम कांबले को कवि वसंत बापट के द्वारा यह बड़ी सलाह है, इस सलाह से मीठा खाने वाले सभी डायबिटीज वालों को राहत मिलती है क्योंकि अक्सर मधुमेह के मरीज के आस–पड़ोस के घर वाले, मित्र आदि के द्वारा मीठा खाने के लिए मना करते हैं । स्वयं डायबिटीज के मरीज का मीठा खाने का मन होता है लेकिन सेहत और बिगड़ न जाए इसलिए वे नहीं खा पाते, इसी तरह की अवस्था लेखक उत्तम कांबले की हुई है । लेखक का इस संदर्भ में मार्मिक रेखांकन दिखाई देता है । किसी भी बीमारी को मन पर नहीं लेना है । यह चीज खानी चाहिए, यह चीज नहीं खानी चाहिए, आदि विचार इनके मन में आते हैं । लेकिन कवि वसंत बापट स्वयं मधुमेह के मरीज होकर भी इन बातों को नजरअंदाज करते हैं । ऐसे अनेक लोग जो इस बीमारी से ग्रस्त होते हैं लेकिन उचित व्यायाम और योग करके इस बीमारी पर बिना दवाई विजय प्राप्त कर चुके हैं और उत्तम कांबले के द्वारा लिखे हुए इस

स्तंभालेख के माध्यम से महाराष्ट्र के 'सकाळ' समाचारपत्र पढने वाले अनेक पाठक इसका अनुकरण करते हुए प्रत्यक्ष रूप में अमल में लाने की कोशिश करते हैं ।

लेखक उत्तम कांबले लावारिस चाय की कहानी को बताते हैं । भाषा में शब्द कितने महत्वपूर्ण होते हैं इसका वर्णन लेखक जब महाराष्ट्र के बीड से अंबाजोगाई जा रहे थे उस समय एक ढाबे पर चाय पीने के लिए रुक गए तब वेटर के साथ लेखक का संवाद काफी विशिष्टता के साथ उभरकर आया है, जो द्रष्टव्य है– "बगैर शक्कर की एक कप चाय दो । उसे मराठी समझ में नहीं आती होगी ऐसा मानकर फिर से कहा "विदऊट शुगर चाय ला..." फिर भी वह देखता ही रहा । मैं फिर से मराठी, हिंदी और अंग्रेजी में समझाने की कोशिश करने लगा । आखिर वह समझ गया, इसकी ख़ुशी जाहिर करते हुए उसने कहा, "साहब लावारिस चाय बोलो ना..." मैंने तो अपना माथा ठोंक लिया ।"[3] इससे ज्ञात होता है कि लेखक उत्तम कांबले ने भाषिक ताकत को समझते हुए अपना माथा ठोंक देते हैं इसका मतलब वे इतना परेशान होते हैं कि उनको लावारिस शब्द पर हँसे या रोएँ यह समझ में नहीं आ रहा था । वेटर ने डायबिटीज वाले के लिए लावारिस शब्द क्यों ढूंढा होगा इस विचार में लेखक डूब गए । 'चार कोस पर पानी बदले आठ कोस पर बानी' इस कहावत के अनुसार भाषा किस तरह से बदलती है, किस तरह से परिवर्तित होती है इसका प्रत्यक्ष अनुभव इस शब्द से होता है । भाषा ध्वनि प्रतीकों की यादृच्छिक व्यवस्था होती है, इसका अनुप्रयोग प्रस्तुत उद्धरण में हुआ । जो बिना शक्कर की चाय के लिए गढ़ा गया शब्द है । अनुवाद यह पुनःसर्जन होता है, जो प्रस्तुत पाठ का प्रो. सदानंद भोसले ने किया है । अनुवादक के द्वारा भाषा की प्रकृति को ज्यों कि त्यों अपनी भाषिक संस्कृति का समग्र ध्यान रखते हुए शब्द की ताकत को बरकरार रखा गया है । मराठी के प्रसिद्ध लेखक उत्तम कांबळे के भाषिक अनुप्रयोग समानांतर भाषिक अंतरण बड़ी विशिष्टता के साथ हुआ है ।

शुगर कम ज्यादा होने से कई लोग हैं जिन्हें अचानक चक्कर आने के कारण मंच पर भाषण देते–देते गिरकर मृत्यु हुई थी । ऐसे अनेक प्रकार दिनोंदिन बढ़ रहे हैं । जिससे अनेक लोग तनाव में चले जाते हैं और कई लोग डायबिटीज को हराने में लगे हुए, जिसका वर्णन करते हुए लेखक उत्तम कांबळे के मत को अनुवाद कर प्रो.सदानंद भोसले लिखते हैं– "ऐसी कई घटनाएँ देखने और सुनने के बाद कुछ लोग डिप्रेशन में जाते हैं । डायबिटीज का इलाज होने के बावजूद भी डिप्रेशन में जाते हैं । एक ऐसे आदमी को देखा है ,जो म्हसरुल से गोदा घाट तक का पाँच–छह किलोमीटर का फासला सुबह–शाम दो बार चलकर तय करते हैं... सब्जी खरीदने खुद ही जाते हैं ...कोई दौड़ने का प्रयोग करते हैं..."[4] प्रस्तुत उद्धरण से ज्ञात होता है कि वर्तमान युग विज्ञान और तकनीकी का है । हर समस्या पर हल है उसी तरह से हर बीमारी का भी इलाज आज हमारे पास है अगर उस इलाज को जानेंगे और समझेंगे तो इसे हराने के लिए हम तैयार होंगे । डायबिटीज को काबू में करने के लिए व्यायाम अत्यंत जरुरी है । सुबह–शाम पैदल चलने के कारण हमारा तनाव कम होता है और शुगर लेवल नियंत्रण में होती है । जिसका लेखक उत्तम कांबळे ने एक आदमी का उदहारण दिया है जो म्हसरुल से गोदा घाट तक लगभग चार–पाँच किलोमीटर का अंतर पार करके सब्जी लाने पैदल चलता है, जो इससे उसकी शुगर लेवल काफी कम होती है, केवल व्यायाम से हम हर बीमारी को दूर रख सकते है, जो वर्तमान मानव जीवन के लिए काफी जरुरी है ।

घुमक्कड़ी में डायबिटीज का वर्णन यह स्वानुभूतिमय अभिव्यक्ति है । क्योंकि लेखक उत्तम कांबळे इससे स्वयं गुजर रहे थे । साथ ही उनके बेटे चार्वाक को भी सोलह–सत्रह साल की उम्र में डायबिटिज हुई थी लेकिन उचित उपाय और जीवनशैली को नियमित रूप से अपनाकर चार्वाक ने इस पर विजय प्राप्त की । उनकी व्यायाम के बल पर दवाइयाँ भी बंद हुई । नई जीवनशैली को जीकर नया जीवन प्राप्त किया था । शरीर के लिए व्यायाम एवं प्रार्थना करना काफी जरुरी है, जो बेटे चार्वाक के द्वारा किया गया है । व्यायाम शरीर के लिए स्वास्थ्यवर्धक होता है । समग्र मधुमेह मरीजों के सामने चार्वाक एक आदर्श के रूप में प्रस्तुत है ।

कम उम्र में चार्वाक जैसे अनेक युवा है, जिन्हें इस बीमारी ने परेशान किया है । लेकिन हम चार्वाक जैसे मेहनत करेंगे तो निश्चित रूप से हम उस पर विजय प्राप्त कर सकते हैं । आमतौर पर लगभग सभी बीमारियों का हल डॉक्टर के पास होता है लेकिन कुछ ऐसी बीमरियाँ हैं कि वह डॉक्टर के साथ –साथ हम स्वयं भी उस पर उपाय खोज सकते हैं और आसानी के साथ बीमारी पर विजय प्राप्त कर सकते हैं । कभी –कभार ऐसा भी होता है कि डॉक्टर का इलाज ख़त्म होने के बाद कई मरीजों को भगवान भरोसे घर ले जाने के लिए कहा जाता है । जब उस मरीज को घर ले आते हैं तब वह मरीज अपनी सकारात्मक मन की इच्छाशक्ति के आधार पर अनेक साल अपना जीवन जी चुके हैं ।

निष्कर्ष

निष्कर्षतः कहा जाता है कि भारतीय परंपरा की दो महत्वपूर्ण भाषाएँ मराठी और हिंदी है । घुमक्कड़ी में प्रस्तुत पाठ को स्रोतभाषा मराठी से लक्ष्यभाषा हिंदी में ले जाने का महत्तम कार्य अनुवादक प्रो. सदानंद भोसले द्वारा किया गया है । अनुवाद यह अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान की एक शाखा के अंतर्गत अध्ययनरत है । अनुवाद करते समय दो सामाजिक और सांस्कृतिक भाषाव्यवहार की दृष्टि से श्रेष्ठ अनुवादक प्रो. सदानंद भोसले की ओर से सूक्ष्म ध्यान दिया गया है । मराठी में लेखक उत्तम कांबळे की एक विशिष्ट शैली है, जो आम जनता को सीधा समझ में आ जाती है । इसका कारण एक तो लेखक स्वयं पत्रकार है । यह घुमक्कड़ी लेखक ने लिखी जो आम ग्रामीण पाठक से लेकर विद्वानों तक समाचार पत्र को पढ़ते हैं, इसे अनुवादक ने बड़ी सूक्ष्मता के साथ हिंदी पाठकों तक पहुँचाया है । उत्तम कांबळे की सुबोध, सरल और प्रवाहमय भाषा को कलात्मकता के साथ हिंदी में लाने का भरसक प्रयास किया गया है । प्रस्तुत पाठ से समग्र पाठकों और मधुमेह से परेशान लोगों को एक सलाह मिलती है कि इससे घबराना नहीं । नई जीवनशैली और नई दैनंदिनी अपनाकर इस बीमारी से छुटकारा पाकर अपना स्वस्थ, सुलभ और सेहतमंद जीवन जी सकते हैं ।

संदर्भ :

1.घुमक्कड़ी –उत्तम कांबळे, अनुवाद – प्रो.सदानंद भोसले आर.के. पब्लिकेशन, प्रथम संस्करण –2019, पृष्ठ संख्या–50

2.घुमक्कड़ी –उत्तम कांबळे, अनुवाद – प्रो.सदानंद भोसले आर.के. पब्लिकेशन, प्रथम संस्करण –2019, पृ.सं.–51

3.घुमक्कड़ी –उत्तम कांबळे, अनुवाद – प्रो.सदानंद भोसले आर.के. पब्लिकेशन, प्रथम संस्करण –2019, पृष्ठ संख्या–51

4.घुमक्कड़ी –उत्तम कांबळे, अनुवाद – प्रो.सदानंद भोसले आर.के. पब्लिकेशन, प्रथम संस्करण –2019, पृ.सं.–51 और 52

साहित्याकाश

आधुनिक हिंदी साहित्य में समकालीन बोध

डॉ. रज़िया शहेनाज़ शेख अब्दुल्ला
सहयोगी प्राध्यापिका तथा शोध निर्देशिका
बहिर्जी स्मारक महाविद्यालय, बसमतनगर
दूरभाष : +91 8888662341, 9850602786
E-Mail ID: drskraziya@gmail.com

शोध सारांश

समकालीन का अर्थ है जो एक समय में हो । विशेषण के रूप में समन्कालीन शब्द एक विशेष्य की माँग करता है और यह विशेष्य राजनीति, धर्म, साहित्य, समाज कुछ भी हो सकता है । जब हम कहते हैं, कि कबीर और तुलसी समकालीन साहित्यकार है, तो काल दोनों के लिए एक समान काम उपलब्ध कराता है और यह समान भूमि दोनों साहित्यकारों का एक आधार बनता है ।

हिंदी साहित्य में आठवे दशक की कविता को समकालीन कविता कहा गया है । मगर साहित्य को पंचवर्षीय घेरो में नहीं बांधा जा सकता । समकालीन साहित्य का अर्थ समसामायिकता नही होता 'समकालीनता' एक व्यापक और बहुआयामी शब्द है और आधुनिकता का आधार तत्व है, जो समकालीन है वह आधुनिक भी हो यह आवश्य नहीं, किंतु आधुनिक चेतना से मिश्रित दृष्टि है, वह निश्चित रूप से समकालीन भी हो सकती है । कहने का तात्पर्य यह है कि समकालीन साहित्य ने बदलते हुए जीवनमूल्यों को मानवीय स्तरों पर ही प्रतिष्ठित किया है। अर्थात समकालीन साहित्य का सामाजिक बोध अपने समय की माँग के अनुरूप उभरा है और उसने समय को अपने दायित्वों के प्रति जागरुक बनाया है । समकालीन साहित्य युगीन यथार्थ वास्तविकता को अभिव्यक्ति प्रदान करता है ।

बीज शब्द– हिंदी साहित्य, समकालीन, बोध, समाज, अभिव्यक्ति आदि ।

समकालीनता एक सम्पूर्ण चेतना है, जो सामयिक संदर्भों, दबावों के तहत विशिष्ट स्वरूप व संरचना धारण करती है । अपने समय की महत्वपूर्ण समस्याओं के साथ मुठभेड ही समकालीनता है । समकालीनता एक ऐसा विशिष्ट पद है जो सतत वर्तमान प्रक्रिया को अपने में समाहित किए रहता है । अपने समय का यथार्थबोध तथा समाज के प्रति लोक पक्षधरता और सचेत मानवीय चेतना ही समकालीनता का बोधक होती है । डॉ. सुखबीर सिंह समकालीनता का अर्थ 'कविता और विविध आंदोलन' में स्पष्ट करते हुए लिखते हैं– "समकालीनता का अर्थ समसामायिकता नही होता है । तात्कालिकता से इसका अर्थ लेने से भी इसके अर्थ का बहुत संकोच हो जाता है । वस्तुतः समकालीनता एक व्यापक एवं बहुआयामी शब्द है और आधुनिकता का आधार तत्व है । जो समकालीन है, वह आधुनिक भी हो, यह आवश्यक नहीं है, किंतु जो आधुनिक चेतना से संचालित दृष्टि है, वह निश्चित रूप से समकालीन भी होती है । इसी संदर्भ में समकालीनता के अर्थ एवं तात्पर्य को थोड़ा व्यापक करके ही ग्रहण करना चाहिए ।"[1]

साहित्य में नयापन लाने का कार्य 15वी–16वीं शताब्दी में अंग्रेजी साहित्य में पहली बार हुआ । अंग्रेज साहित्यकारों ने प्राचीन सिद्धांतो को युगीन बताया, भाषा के विकास के लिए हर कोशिश की साथ में समीक्षकों ने भी शास्त्रीयता से हटकर व्यावहारिक समीक्षा की ओर झुले, प्लेटो को आदर्श बना दिया गया, साहित्य को प्रचार का साधन भी बना गया था । इन

साहित्यकारों ने मनुष्य के जीवन में संयत लाने के लिए तथा नैतिकता की वृध्दि के लिए साहित्य की स्वतंत्रता पर जोर दिया । लेखन में चितन होने लगा तथा साहित्यकारों को इतिहास, नीतिशास्त्र, दर्शन आदि का ज्ञान आवश्यक था । प्राचीन मान्यताओं को वहीं तक स्वीकारने लगे जहाँ तक वह स्वीकार्य हो । साहित्यकार को न्याय, विवेक और कल्याण का खजाना मानने लगे ।

सन 1960 के बाद भारतीय राजनीति में लोगों का मोहभंग शुरू हो गया । और कुछ घटनाओं ने जैसे 1962 का भारत–चीन युद्ध ने हिंदी चीनी भाई–भाई और नेहरू के पंचशील सिध्दांतों की धज्जियाँ उडा दी थी । इस घटना ने न सिर्फ बुध्दिजीवियों को परेशान व बेचैन किया बल्कि वैचारिक धरातल पर बदलाव भी दिखायी देने लगा था, जो बाद के दशकों में बडता ही गया । वस्तुओं को देखने, परखने, जाँचने की दृष्टि भी बदलती गयी जिस कारण साहित्य और समाज में भी परिवर्तित दृष्टि दिखाई दी जाने लगी । इसी दौर में आधुनिकता के भीतर ही समाज और साहित्य में एक नयी प्रवृत्ति पनप रही थी जिसकी पहचान आगे चलकर समकालीनता के रूप में की जाने लगी । जन आकांक्षाओं की बदली हुई प्रवृत्ति ने समकालीन साहित्य को प्रभावित किया। और तत्कालीन साहित्यकारों ने बदली हुई जन आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति अपनी रचनाओं में की । आजादी के बाद सामंतवाद के सारे सामाजिक और वैचारिक विशेषों को समाप्त कर जिन लोकतांत्रिक संस्थाओं और मूल्यों के आधार पर जीवन की पुनर्रचना के स्वप्न देखे गये थे वे न सिर्फ अधूरे रह गये है बल्कि सभी संकट से घिर गए । इसी कारण, “हम समकालीनता के बोध को उस पुनर्रचना के संघर्ष से अलग करके नहीं देख सकते । यह बोध राष्ट्रीय जीवन के आधुनिकीकरण अर्थात सामंती, सामाजिक तथा वैचारिक अवशेषों को समाप्त कर जनवादी मूल्यों पर आधारित समाज और संस्कृति के संघर्ष का अभिन्न अंग है ।”[2]

सन् 1960 के पश्चात राष्ट्रीय स्तर पर हुए परिवर्तनों का प्रभाव हिंदी साहित्य पर प्रत्यक्ष रूप से दिखाई देता है । यह परिवर्तन पंचवर्षीय योजना के मूल्यांकन, पंचशील और भारत चीन युद्ध पाक–भारत युध्द के परिणाम स्वरूप तेजी से उभरता हुआ दिखाई देता है । इसके साथ ही विश्व के अन्य भागो में होने वाली सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और धार्मिक क्रांतियों का प्रभाव भी भारतीय मानस पर पड़ा है जो समकालीन कथा साहित्य में प्रतिबिंबित होता दिखाई देता है । मोहमंग की परिस्थितियों ने साहित्य की अन्य विधाओं के समान हिंदी उपन्यास और कहानी को भी गहरे स्तर पर प्रभावित किया है । इस प्रकार समकालीन हिंदी साहित्य में स्वातंत्र्योत्तर भारतीय जीवन की विविध पक्षों की अभिव्यक्ति हुई है साथ ही 8 वें 9 वें दशक के बाद स्त्री अस्मिता, अधिकार के प्रश्न बड़ी तेजी से उठाए गए है जिसमें महिला व पुरुष दोनों की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण है । स्वाधीनता के बाद देश की जो सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक परिस्थितियाँ उभरकर आयी है उसने समकालीन जीवन को बहुत अधिक प्रभावित किया । समकालीनता निर्धारण करते हुए राजेश जोशी लिखते हैं– “समकालीनता के पद का निर्धारण मुझे लगता है समय को विभाजित करने वाली ऐतिहासिक घटनाओं के संदर्भ में ही किया जाना चाहिए । लेकिन अक्सर अपनी सुविधा के अनुसार इस पद का उपयोग बहुत ही मनमाने ढंग से कर लिया जाता है, इस तरह अमूर्तन समकालीनता इस को एक अमूर्त पद बना देते हैं ।”[3]

अर्थात समकालीन कविता में विचार और संवेदना दोनों का महत्व स्वीकार किया गया है । समकालीन कविता आम आदमी के जीवन के संघर्षों, विसंगतियों, विषमताओं एवं विद्रुपता की खुली पहचान है । 'इक्कीसवीं सदी भारत की होगी' यह दिवा स्वप्न, को देखने वालों देश के उन अधनंगे भूखे लोगों की ओर ताकने का अवसर ही नहीं मिल पाता जो दो जून की रोटी के लिए मारे–मारे फिर रहे हैं । भारत के समग्र विकास के लिए आवश्यक है कि इस तबके को झाँका जाए । समकालीन हिंदी कविता मानवतावादी है, पर इसका मानवतावाद मिथ्या, आदर्श की परिकल्पनाओं पर आधारित नहीं है । उसमें यथार्थ की दृष्टि है जो मनुष्य के पूरे परिवेश को समझने का बौध्दिक प्रयास है । समकालीन कविता मनुष्य को किसी कल्पित सुंदरता और मूल्यों के आधार पर बड़ा करती है । केदारनाथ की कविता में हम इस महत्ता को देख सकते हैं–

"उसके बारे में कविता करना
हिमाकत की बात होगी
और वह मैं नहीं करूंगा
मैं सिर्फ आपको आमंत्रित करूंगा
आप आयें और मेरे साथ सीधे
उस आग तक चलें
उस चूल्हें तक जहाँ पक रही है,
एक अद्भूत ताप और गरिमा के साथ
समूची आग को गंध बदलती हुई
दुनिया की सबसे आश्चर्यजनक चीज
वह पक रही है ।"[4]

समकालीन कविता वास्तव में व्यक्ति की पीड़ा की कविता है । अपने पूर्ववर्ती कविता की भाँति यह व्यक्ति के केवल आंतरिक तनाव और द्वंद्वों को नहीं उकेरता अपितु, यह व्यापक सामाजिक यथार्थ से जुड़ाव महसूस कराती है । जिंदगी को उन थपेडों को उसका ठोस सचाइयों को और राजनीतिक सरोकारों को भावुक हुए बिना सत्य का साक्षात्कार कराती है । प्रशासनिक तंत्र में भ्रष्टाचार का विष जनसामान्य को जीने नहीं दे रहा है । तब कवि माँ दुर्गा से कामना करता है–

"माँ दुर्गा
सादर पधारो,
बुराईयों के
राक्षसों को संहारों ।
महँगाई पेट पर
पैर धर रही है,
भ्रष्ट्राचार की बहिन
टेढ़ी नज़र कर रही है ।"[5]

भ्रष्टाचार समाज की वह कुरीति है जो समाज को अंदर से खोकला कर रही है । भ्रष्टाचार का जन्म कलुषित राजनीति–के कोख से हुआ है–

"झूठ ढला है
सिक्कों की राजनीति
टकसाल है पूरी संसद
चोरों और लुटेरों की चडपाल है ।"[6]

आज की व्यवस्था, इस प्रकार है कि भ्रष्टाचार कहाँ नहीं है, आज हर नेता अपने को बचाने के लिए दल बदल रहा है । हम देखते हैं समकालीन कविता में समाज में व्याप्त तमाम मुद्दों को एवं उसके कुप्रभाव से समकालीन कविता हमे आला अवगत कराती है ।

हिंदी के वरिष्ठतम पीढ़ी के आलोचक प्रो. विजयमोहन सिंह का मानना है कि, “जब भी मैं साहित्य के संदर्भ में समकालीनता के विषय में सोंचता हूँ, तो हमेशा लगता है कि जिसे हम समकालीन प्रश्नों, समस्याओं और दबावों के बीच ही हुआ होगा । शायद यही आधुनिक क्या साहित्य प्राचीन महाकाव्यों और पौराणिक कथाओं से अलग हो जाता है । मिथक और यथार्थ के बीच यह दूरी ही समकालीनता की अवधारणा को जन्म देती है किंतु समकालीनता का बोध और उसकी चेतना हमें अपने समय के प्रति अत्याधिक सजग और सचेत बना देती है... जब हम रचना के संदर्भ में समकालीनता की बात करते हैं तो हम पाते है कि हम तनी हुई रस्सी पर चल रहे हैं ।”[7]

स्वतंत्रता ने संविधान प्रदत्त अधिकार अवश्य सौंपे, पर उसे जीने और उपयोग की मानसिकता स्वतंत्रता के लगभग 20–25 वर्ष बाद उभरी । यही वह समय था जब शिक्षा, रोजगार, राजनितिक संपत्ति विषयक अधिकारों का उपभोग करने का अवसर स्त्री को मिला । शिक्षा एवं रोजगार ने स्त्री की स्थिति में बदलाव लाया । इस तरह वह अध्ययन के केंद्र में आयी और इसके द्वारा उठाए गए प्रश्नों पर नवीनता से विचार किया जाने लगा । इक्कीसवीं सदी के प्रथम दशक को केंद्र में रखकर हम ‘स्त्री प्रश्नो’ से साक्षात करना चाहेंगे तो पाएँगे कि इक्कसवीं सदी के प्रथम दशक 2001–2012 में सामाजिक परिवर्तन, की गति सर्वाधिक तीव्र रही है । बाजारवाद व भूमंडलीकरण ने अपनी तमाम अच्छाइयों और बुराइयों के साथ सभी वर्ग की स्त्रियों को घर से बाहर निकलने के अवसर प्रदान किये । स्त्री ने अपने लिए जहाँ अब–तक के वर्जित क्षेत्रों में अपनी ठोस उपस्थिति दर्ज करायी, वही आर्थिक स्वावलंबन की दिशा में तीव्र प्रयास करती दिखायी देने लगी और उसका परिणाम आज समाज के सामने दिखाई दे रहा है ।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1) डॉ. सुखबीर सिंह – कविता और विविध आंदोलन–लेख
2) डॉ. रामकली सराफ – समकालीन कविता की प्रवृत्तियों – प्रथम संस्करण 1991, पृ.198
3) राजेश जोशी – समकालीनता और साहित्य – राजकमल प्रकाशन नयी दिल्ली – प्रथम संस्करण 2010, पृ. 35
4) केदारनाथ सिंह – रोटी
5) सूरजीत नवदीप – रावण का मरेगा नही – नवगीत से आगे, माध्यम अक्तूबर–दिसंबर–2006, पृ.101
6) रेखा कस्तवार– स्त्री चिंतन की चुनौतियों –राजकमल प्रकाशन इलाहबाद संस्करण–2013

समकालीन साहित्य का स्वरूप और संदर्भ

डॉ. दीपक विनायकराव पवार
असोसिएट प्रोफेसर
दिगंबर बिंदू महाविद्यालय भोकर

'साहितस्य भावः साहित्यम' जिसमें हित की भावना निहित हो उसे साहित्य कहते हैं । साहित्य में समान रूप से सबके हित की भावना निहित होती है, किंतु उसके स्वरूप के विषय में विद्वानों में मतभेद हैं । समकालीन यथार्थ का चित्रात्मक स्वरूप ही साहित्य है । समकालीन विसंगतियों का व्यंग्य विद्रुप साहित्य की विशेषता है । शायद इसी कारण साहित्य का समकालीन परिस्थितियों से गहरा संबंध है जिसके कारण साहित्य को समाज का दर्पण कहा गया । कहने का तात्पर्य यह है कि युगीन परिस्थितियों के अनुसार साहित्य सृजन होता है । उससे प्रेरणा पाकर साहित्यकार साहित्य सृजन करता है । किसी भी युग की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक समस्याओं क चित्रण ही समकालीन बोध है ।

समकालीन साहित्य 1945 से प्रकाशित गद्य, कविता और नाटक को संदर्भित करता है और इसमें दो आंदोलन शामिल है । द्वितीय विश्व युद्ध की हिंसा ने कलाकारों को उत्तर– आधुनिकतावाद नामक आंदोलन में मानव स्वभाव और सच्चाई की पारंपरिक समझ पर सवाल उठाने के लिए प्रेरित किया, जिसने भव्य कथा पर और अधिकार अविश्वास किया । 1990 के दशक तक ।

बदलते परिस्थितीयों के साथ–साथ सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक मान्यताएँ भी स्वयं ही परोक्ष रूप में नित्य नवीन रूप धारण कर लेती है । कुछ समय के पश्चात परंपरागत विचारधारा गौण होती है तथा प्रचलित भावधारा प्रमुख बन जाती है । साहित्यकार समाज में प्रचलित स्वरूप को व्यक्त किये बिना नहीं रह सकता । इस प्रकार तत्कालीन साहित्य को प्रभावित करने का श्रेय समकालीनता को ही है । निसंदेह हम यह कह सकते हैं साहित्य में समकालीनता, साहित्य और समकालीनता संबंध के मूल पर विचार करते समय प्रायः चार हिंदी कवियों का नाम उल्लेखनीय हैं कबीर, निराला, अज्ञेय, मुक्तिबोध । इस साधार पर समकालीन कविता की भूमिका की लेखिका डॉ. सुधा रणजीत ने कबीर से समकालीन कविता का आरंभ माना है ।

समकालीन हिंदी कहानी एक नये वेग, नयी वेषभूषा, और नई तकनीक एवं विचारधारा के साथ आगे बढ़ी है । समकालीन कहानी में पुराने–नए सभी कहानीकार अविराम, गति से कहानी साहित्य का सृजन करते रहे हैं । जीवन में जटिल और व्यापक यथार्थ की सीधी और बेबाक अभिव्यक्ति समकालीन कहानी की विशेषता है । इसमें जहाँ शिल्प की नवीनता है, भावबोध और उद्देश्य की नवीनता निकलकर समकालीन कहानी पुनः अपने सहज और संतुलित रूप को प्राप्त कर रही है । विसंगतियों से सीधा साक्षात्कार करती हुई समकालीन कहानियाँ जीवन के भोगे हुए सत्यों को इमानदारी व प्रखरता के साथ अभिव्यक्त करती हुई प्रगति पथ पर अग्रसर हैं ।

आज के दौर की समकालीन कथा साहित्य वह नहीं है? जो नवे–8 वें दशक का कथा–साहित्य है । सामाजिक एवं राजनीतिक परिवर्तनों–आजादी के बाद भारतीय का लागू होना, उदारीकरण, भूमंडलीकरण, निजीकरण, पंजीकरण, नव उपविशेवाद की आर्थिक नीतियों को लागू होना, दिसेंबर 1992 पारित संशोधन के 73वें संशोधन के बाद ग्रामीण स्त्रियों को तैंतीस प्रतिशत आरक्षण मिलना, 'हिंदू कोड बिल' का पारित होना– से भारतीय समाज में स्त्री की स्थिति में जबर्दस्त परिवर्तन आया

जिसका प्रभाव कथा–साहित्य में भी दिखाई देता है । जैसे–जैसे परिस्थितियाँ बदलती हैं उन्ही के साथ–साथ सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक मान्यताएँ भी स्वंय ही परोक्ष रूप में नित्य नवीन रूप धारण कर लेती है । साहित्यकार समाज में प्रचलित स्वरूप को व्यक्त किये बिना नहीं रह सकता । इस प्रकार तत्कालीन साहित्य को प्रभावित करने का श्रेय समकालीनता को ही है । निसंदेह हम यह कह सकते हैं कि साहित्य में समकालीनता का अत्यंत महत्व है । साहित्य और समकालीनता संबंध के मूल पर विचार करते समय प्रायः चार हिंदी कवियों का नाम उल्लेखनीय है । कबीर, निराला, अज्ञेय और मुक्तिबोध । इस आधार पर समकालीन कविता की लेखिका डॉ. सुधा रणजीत ने कबीर से समकालीन कविता का आरंभ माना है । उन्होंने अपना तर्क देते हुए कहा है, "निरंतर परंपरा की कोई अपेक्षा जरूरी न हो तो फिर कबीर को समकालीनता. गीता का प्रवर्तक क्यों माना जा सकता है, क्योंकि विचार बोध काव्याबोध और स्वभाव बोध की दृष्टि से अधिकांश समकालीन कवि अपने किसी पूर्वज से प्रेरित होते रहे है तो कबीर से भी ।"[1] युगीन परिस्थितियों से प्रेरणा पाकर कवियों ने साहस, और ऊर्जा का संचार करना अपना कर्तव्य समझा । भक्तिकाल में मुसलमान राज्य भारत वर्ष में प्रायः प्रतिष्ठित हो चुका था । वैसे नैराश्य और अवसाद के वातावरण में कवियों ने अपने उपास्य देव के स्थरूप और चरित्र निरुपण में डूबे हुए थे । भक्तिकाल में मुसलमान शासकों के शासन में लोग संत्रस्थ थे । इसलिए समाकालीन बोध का विस्फोट पहली मध्ययुगीन साहित्य में हुआ । तत्कालीन समाज की दुरवस्था का यथार्थ रूप का अंकन निम्न कविता में यों अंकित किया गया है–

"खेती न किसान को भिखारी को न भीख
बलि बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी ।"[3]

इन परिस्थितियों के कारण निम्नवर्ग में जन्म लेकर, दुर्भर जीवन बीताने वाले कवि उस व्यवस्था की निंदा की । इन कवियों में कबीर, रैदास, सरहप्पा, नानक, दादू आदि उल्लेखनीय है । सर्वमानव समानता की भावना कबीर में अधिक रूप से मिलती है –

"एक त्वचा, हाड, मल, मूत्र एक रुधिर एक गूदा,
एक बूंद ले सृष्टि रच्यों है को ब्राहमण, तुलसी को शुद्रा ।"[4]

तुलसी ने पीडित मानवजाति को राम का मर्यादा पुरुषोत्तम का लोकमंगल रूप दिखाकर समाज को स्वस्थ पथ मार्ग बताया तो सूरदास में अपने गीतों से कृष्ण के रागात्मक मानवीय रूप से मानव हृदय में आस्था एवं प्रेम की भावना जागृत की । इससे भी आगे जाकर जन–सामान्य को काव्य का लक्ष्य बनाने वालों में प्रमुख महत्मा है । वे धर्मोपदेशक ही नहीं, वरन् पाखंड धर्म के परमशत्रु थे । वे पीडित मानव के पक्षधर थे, उनके वाणी में विस्फोट था । जात–पात का खंडन वे साहस के साथ करते है वैसा और किसी कवि में नही है । रीतिकालीन कवि आश्रदाताओ कां मनोरंजन करने के लिए शृंगारपरक रचनाएँ करते थे।

आधुनिक युग यथास्थिति से चिपके रहने युग नही है । युगीन संवेदनशीलता, इतनी तीव्रगति से बदलती जा रही है कि हर नई व्यवस्था के जन्म के साथ ही उसकी मृत्यु के आसार नजर आते है । इस अर्थ में किसी भाषा के साहित्य में बहुत कम अवधि में विविध मोडों का निर्माण होना उस भाषा के साहित्य की जीवन्तता का लक्षण माना, जाना चाहिए। हिंदी कहानी के संबंध में यदि उक्त विश्लेषण सही माना जाए तो बीस बरसों की छोटी अवधि में हिंदी कथा–साहित्य की गतिशीलता जो उसके विविध नामकरणों से सूचित् हुई है ।

भारतेंदु युग में नविन चेतना का सुत्रपात हुआ। पश्चिमी विचारकों के चिंतन प्रभाव से लोग प्रभावित होने लगे थे। इस युग ने परंपरागत भारतीय चिंतनधारा को प्रभावित किया। भारतेंद्र, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र आदि कवियों ने व्यक्तिवाद, नारी स्वातंत्र्य, राष्ट्रवाद आदि का प्रचार होने लगा। इस युग के प्रमुख लेखकों मे भारतेंदू, बालकृष्ण भट्ट प्रतापनारायण मिश्र आदि हैं ।

इन रचनाकारों ने देश की यथार्थ स्थिति को देशवासियों के सामने प्रस्तुत कर उनमें राष्ट्रीय चेतना, जगाने का कार्य किया है। द्विवेदी युग में समाज सुधार एवं राष्ट्रीय उत्थान की भावना का प्राबल्य रहा। छायावादी कवियों ने इतिवृत्तात्मकता के साथ प्रकृति का अलोकिक–अलौकिक अवलंबन, काव्य के प्रेरक उपादान प्रस्तुत किए। प्रगतिवाद ने आर्थिक साधनों की समानता पर नियंत्रण को प्रस्तुत कर वर्ग विहिन समाज की स्थापना का आदर्श प्रस्तुत किया। प्रगतिवाद युग में शोषक वर्ग प्रति तीव्र आक्रोष व्यक्त हुआ।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद जीवन मूल्योंमें तेजी से बदलाव आया । स्वीकृत मानव मूल्य परंपराएँ तथा विश्वास, नष्ट हो गये । चीनी, पाकिस्तानी और युध्द की घटनाओं को लेकर साहित्यकारों ने रचनाएँ की । देश की एकता और अखंडता को बनाये रखने के लिए रचनाकारों ने महत्वपूर्ण योगदान दिया । देशभक्ति, राष्ट्रवाद, शौर्य, शक्ति, साहस भरी रचनाएँ निर्माण कर लोगों में संचार पैदा करना साहित्यकार का प्रधान कर्तव्य बन गया । भारतेंदू युग में कवियों ने समकालीन समस्योओं का चित्रण अपनी कविताओं के माध्यम से किया । अंग्रेजों के शोषण से संत्रस्त भारत की दुस्थिति का आँखों देखा वर्णन भारतेंदु हरिश्चंद्र की 'भारत दुर्दशा' में दिखाई देता है–

"आवहु सब मिलि रोवहु भारत भाई,
हा । हा । यह भारत दुर्दशा न देखी जाई ।"4

सातवें दशक के मध्य भारतीय जनमानस में प्रतीक्षा का भाव समाप्त हो गया । इसके स्थान पर मोहभंग और सामाजिक परिवर्तन के लिए आतुरता– अधीरता का भाव पैदा हुआ । समकालीन महिला एवं पुरुष कथाकारों ने राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक स्वार्थ प्रेरित ताकतों के विरूध्द लड़ने हेतु अपनी कहानियों एवं उपन्यासों को प्रगतिशीलता से आच्छादित किया । सभी ने अपनी तर्कपूर्ण बात रखने का साहस दिखाया । यही कारण है कि उनके कथा–साहित्य में घोर विद्रोह के दहकते शोषित, पीड़ित, जन समुदाय के ज्वालामुखी को भूखंड के भीतरी जलन को अभिव्यक्ति मिली । व्यापक मोहभंग और व्यवस्था का शिकार हुए आम आदमी के अंदर की पीड़ा, तनाव, विवशता, अबोधता, सहिष्णुता अकेलापन, हताशा, निराशा, घर–परिवार, खीझ और गुस्से को उसके कटु अनुभवों को समग्रता में उद्घाटित समन्कालीन कथा– साहित्य में किया जाता रहा है ।

समकालीन बोध का पूर्ण विकास आठवें और नवें दशक में हुआ है । मार्क्सवादी चेतना से अभिप्रेरित प्रगतिवादी काव्य में इसके प्रति अत्यंत ध्यान दिया गया है । डॉ. रांगेय राघव अपनी कविता में कृषक वर्ग की यथार्थ स्थिति का मर्मस्पर्शी चित्रण करते हैं–

"आह रे क्षुधित किसान ।।
छीन लेता सब कुछ भूस्वामी
उगाता जो श्रम से तू खेत
नहीं तेरा उसपर अधिकार ।।
झोपडों में तू लू से त्रस्त
सभ्यता की बलि जाता हाय
कर लिया करता है चीत्कार ।"[5]

सामाजिक व्यवस्था की स्थिति की इतनी विचित्र है कि अमीर लोग पीढ़ी दर पीढ़ी से अमीर के रूप में गरीब लोग गरीब के रूप में जीवन व्यतीत कर रहे हैं ।

समकालीन साहित्य सुनिश्चित सामाजिक बदलाव लाने के लिए जनसंघर्ष के प्रतिपूर्ण समर्पित है। इस दौर की महिला कथाकार भी पिछे नहीं रही । वे मुक्ति का मार्ग तलाशती आधुनिक स्त्री जीवन के विविध पहलुओं को परत दर परत उकेरती है ।

चाहे वह स्त्री की 'आर्थिक स्वायत्ता' का प्रश्न हो, या 'यौन–सुचिता' का प्रश्न हो, या स्त्री के आत्म संबंधों का प्रश्न हो, चाहे पुरुष के हवस का शिकार होती स्त्री का प्रश्न हो या आधुनिक स्त्री का आक्रोश हो । महिला रचनाकारों ने सर्जनात्मक स्तर पर पुरुष की स्त्री–विरोधी मूल्य मर्यादाओं, मिथकों, आदर्शों आदि की कड़ी आलोचना कर उन्हें तोड़ने के लिए अपने कथा–साहित्य में अपने मन तथा विचार के अनुकूल स्त्री–पात्रों को गढ़कर उन्हें अपने लेखनी द्वारा प्रस्तुत करने का पूरा प्रयास किया है । समकालीन नारीवादी चिंतक आशा रानी व्होरा लिखती है– "सृष्टि की रचना में स्त्री का योगदान पुरुष के समान योगदान से कहीं ज्यादा है, वह मानव की जन्मदात्री है । फिर भी संसार के विकास में उसका योगदान क्यों नगण्य रहा? आज में समानता की भागीदारी केवल विधान के व्यवहार में कागजों पर है, व्यवहार में इस आँधी आबादी का स्थान अल्पसंख्याको के समान ही है । ऐसा क्यों? इसी वजह से सवाल उठते हैं कि क्या वह अल्पसंख्यक है? क्या वह दूसरे दर्जे की इंसान है? क्या वह बुध्दी या अन्य मानवीय गुणों में पुरुषों से हीन है? क्या वह पुरूष पति का मन बहलाव करने की वस्तु है?"[6]

निष्कर्ष रूप से हम सकते है कि समकालीन साहित्यकारों ने पहले से भी अधिक जन–जीवन के निकट आकर समस्याओं अनुशीलन करने लगे हैं । साहित्यकारों ने समालीन समस्याओं का चित्रण करके समाज को युगीन बोध से बोचित करने का प्रयास किया है । समकालीन साहित्य चिंतन का नयापन यह है कि इसका रूप अब एक जैसा नहीं है । किसी एक ही विचार का महत्व अलग–अलग हो गया है के अंतर्गत आता है; जिसमें दलित, आदिवासी, स्त्री और पर्यावरण संवेदना प्रमुख है ।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1) सं.डॉ. रणजीत– अद्यतन हिन्दी कविता– भूमिका पृष्ठ–3

2) तुलसीदास– कवितावली– उत्तरकांड–पृ.32

3) कबीर ग्रंथावली – पृ.सं.150

4) सं ब्रजरलदास– भारतेदु ग्रंथावली–प्रथम खंड–प्रथम संस्करण, पृ. 465

5) रांगेय राघव– सर्ग 14–पृ.492

6) रामचंद्र तिवारी– हिंदी गद्य साहित्य – पृ.122

7) डॉ. हेमलता पी– समकालीन कविता में वर्तमान जीवन यथार्थ– सी. पृ. 107

8) धर्मजय वर्मा– आधुनिक हिंदी कहानी

9) डॉ.साधना शाह– हिंदी कहानी– संरचना– वाणी प्रकाशन–नई दिल्ली

10) डॉ. सुबेदार राय– स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कहानी का विकास– अनुभव प्रकाशन कानपुशोध लेखक

कृष्णा सोबती के उपन्यासों में सामाजिक सरोकार

प्रो. डॉ. शेख शहेनाज
हिंदी विभाग प्रमुख
हु. जयवंतराव पाटील महाविद्यालय,
हिमायतनगर, नांदेड .–431802.

हिंदी कथा–साहित्य के क्षेत्र में कृष्णा सोबती का नाम अग्रणी है । ये स्वातंत्र्योत्तर लेखिकाओं में सबसे अधिक चर्चित रही हैं । इनके बहु चर्चित होने का प्रमुख कारण इनके साहित्य में पंजाबी सस्कारों से युक्त नारी–मन का खुलेपन के साथ चित्रण माना जाता है । कृष्णा सोबती ने पंजाब प्रांत यहाँ की नारी की पराधीन जिंदगी को करीब से देखा था, देखा ही नहीं अनुभव भी किया था । जिसका प्रत्यक्ष रूप हमें इनकी रचनाओं में देखने को मिलता है । आधुनिक हिंदी रचनाकारों में कृष्णा सोबती एक ऐसी ही महत्वपूर्ण रचनाकार है जिन्होंने सामाजिक रूप से सजग एवं सशक्त उपन्यासों एवं कहानियों की रचना कर भारतीय कथा–साहित्य को एक विस्तृत फलक प्रदान किया है। लगभग छह दशकों तक फैले अपने रचनाकाल में सोबती ने कुल दस उपन्यास, एक कहानी संग्रह, संस्मरण, रेखाचित्र संग्रह तथा रिपोताज सम्मिलित हैं । कम लिखने के बावजूद भी उनका लेखन विशिष्ट है ।

साहित्य के निर्माण और उसके बोध की प्रक्रिया सामाजिक संदर्भों से कभी असंपुक्त नही रही है । आधुनिक युग के साहित्य पर सामाजिक–राजनीतिक परिवेश का जितना गहन और व्यापक प्रभाव पड़ा है, वह इससे दृष्टिगत नहीं होता । आज का साहित्यिक सामाजिक संगठनों, समाज की आर्थिक संरचना एवं राजनीतिक और सांस्कृतिक परिवेश से गहरे तौर पर प्रभावित हुआ है ।

कृष्णा सोबती का रचनाकर्म यथार्थ बोध से निःसृत है, जिसमें युगीन सामाजिक–राजनीतिक हलचलों को महसूस किया जा सकता है । सामाजिक यथार्थ को जीवन से जोडने की कला सोबती के लेखन की विश्वसनीयता को बढ़ाती है । अपनी रचनाओं में सामाजिक यथार्थ के निर्वाह में वे अपने विचारों को कमजोर नहीं पड़ने देती ।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है । समाज में रहकर ही व्यक्ति का उत्थान–पतन, उन्नति–अवनति, पाप–पुण्य, नैतिक–अनैतिक कार्य संपादित होते हैं । इतिहास साक्षी है कि जब–जब भी मानवीय हित सामाजिक हितों से टकरायें है समाज संरचना की परम्परागत धारणाएँ या आधारशिलाएँ खड़ी हुई हैं तो मानव ने अपनी कल्पना का सुंदर महल बनाकर खड़ा कर दिया । कृष्णा सोबती के उपन्यासों का संपूर्ण चिंतन समाज सापेक्ष है इसमें भी व्यक्ति मूल्य प्रमुख है । जब समाज में सर्वत्र अस्तित्व के लिए संघर्ष है चाहे वह व्यक्तिगत क्षेत्र में हो, वर्ग विशेष में हो अथवा सामाजिक क्षेत्र में तब यह निश्चित होता है कि महिला उपन्यासकारों का समाज संरचना के संबंध में भी महत्वपूर्ण योगदान रहा है । समाज में नारी के अपने स्वप्न को पूरा करने की कल्पना द्वारा उपन्यासों में विभिन्न दृष्टिकोणों में अभिव्यक्त किया है ।

कृष्णा सोबती ने वर्जनाविहीन समाज के नवीन वातावरण में दाम्पत्य के बदलते रूपों को देखा–परखा है । परम्परागत दाम्पत्य जीवन पर लेखिका ने नवीन प्रश्नों को उभारा है । 'सूरजमुखी अंधेरे के' उपन्यास की नायिका रत्ती एक पुरुष की छाया में जीवन व्यतीत करने में विश्वास नही रखती । भिन्न–भिन्न स्थानों और परिवेश में विभिन्न पुरुषों से प्रेम–संबंध स्थापित करती है, अतृप्ति का अग्नि में समस्त जीवन जलती रहती है अपने इसी अतृप्त जीवन का परिचय देती हुई रत्ती के इन शब्दों में और अधिक

नष्ट हो जाती है । रत्ती अच्छी लड़की नही, रत्ती कोई औरत नही, वह सिर्फ गीली लकड़ी है, जब भी जलेगी, धुँआ, देगी सिर्फ और सिर्फ धुँआ ।"[1] रत्ती के लिए यह लड़ाई दोहरे छोर पर है, एक तो उसे उस घटना से लड़ना है दूसरा उसे लोगों द्वारा खुद को एक सीमा में निर्धारित कर लिए जाने से । ऐसी स्थिति में व्यक्ति भीड में रहते हुए भी खुद को अकेला महसूस करने के लिए मजबूर हो जाता है । रत्ती को भी ये अधुरापन अपना लगने लगा और वह इसमें आनंदित भी रहने लगी । उपन्यास के प्रारंभ में ही केशी और रीमा जो की पति–पत्नी हैं और रत्ती के दोस्त भी रत्ती के संदर्भ में ऐसी ही भूमिका का निर्वहन करते देखे जा सकते हैं । केशी उसे समझता है । वह जानता है कि यह लड़ाई पुरूष के विरोध में नही बल्कि उसकी खुद से है । केशी उसे मानसिक रूप से सहारा देता है । वह नहीं चाहता की रत्ती अतीत में खोकर अपना वर्तमान और भविष्य खराब करें । वह उसे समझाता है कि, "हमेशा अपने से अपने अंदर लड़ते रहने का कोई फायदा नही । लड़ाई को अपने से बाहर रखकर लड़ना हमेशा अच्छा रहता है ।"[2]

कृष्णा सोबती द्वारा लिखित 'डार से बिछुडी' उपन्यास में पाशो अपनी नानी, मामा–मामियों की भर्त्सना और आक्रोश को झेलने के लिए विवश है क्योंकि वह उस माँ की बेटी है जो खोजो वाले हवेली के शेख के साथ भाग गयी थी । माँ की तरह ही पुत्री पर दुष्चरित्र होने का आरोप लगाकर उसे बड़े–कड़े नियमों के अधीन जीवन व्यतीत करने की हिदायतें दी जाती हैं । उसके उठने–बैठने के ढंग पर भी परिवार वालों को आपत्ती है । उन सब की डाँट–फटकार और मार को सहन करना उसकी नियति है । वह मामा– मामी और नानी सबकी नजरों में कुलच्छनी है क्योंकि उसकी माँ ने उनके घर की मर्यादा को खाक में मिलाया था । उसकी मामी उसे हमेशा कुछ न कुछ सुनाती रहती, "अरी नरकों में वास हो तेरा और तुझे जन्मनेवाली का उस शोहदे से आँख लड़ाने चली । जैसे कुलच्छनी माँ थी...."[3] पाशो यह सह नही पाई और माँ के पास चली गई । कृष्णा सोबती ने अपनी इस कथाकृति में पात्रों के माध्यम से स्त्री–जीवन के समक्ष जन्म से ही मौजूद खतरों और उसकी विडंबनाओं को रेखांकित किया है, पाशो इस उपन्यास में धरती और संस्कृति दोनों की प्रतिरूप है क्योंकि पाशो की माँ जो विधवा थी उन्होंने अपनी जिंदगी में एक दूसरे पुरुष शेख के साथ विवाह किया, जिस कारण पाशो को बचपन से ही इसकी कीमत चुकानी पड़ी, उसे हमेशा शक की नजरों से देखा जाता था ।

'मित्रो मरजानी'कृष्णा सोबती द्वारा रचित उपन्यास में कामदग्ध नारी की वेदना का चित्रण किया गया है । मित्रों में कामोत्तेजना सामान्य नारी की तरह नहीं है इसलिए पति के अतिरिक्त भी अवैध संबंध जोड़कर वह अपनी काम तृप्ति करती है । वह स्वयं ही नही उसकी माँ बालों का चरित्र भी इसी श्रेणी का है संभवतः पुत्री ने अनुवांशिकता में ही यह कामेच्छा प्राप्त की है। मित्रों का विवाह व्यापारी परिवार में होता है जो संयुक्त परिवार है । उसका नाम सुमित्रंवती है, जिसे मित्रों का बुलाते हैं । मध्यमवर्गीय संयुक्त पारिवारिक परिवेश में मित्रो बड़ी बेबाक, निडर और सक्षम स्त्री को चरितार्थ करती है जो अपनी देह की मांग को अपराध बोध से जोड़कर नही देखती वह यह मानने को कतई तैयार नही है कि जो देह प्रेम करने का माध्यम है उसे सिर्फ घर, परिवार और कर्तव्यों से ही जोड़कर देखा जाय । जब मित्रो कहती है, "मित्रो रानी! थ्चंता फिकर तेरे बैरियों को । जिस धड़ने वाले ने तुझे घड दुनियाँ का सुख लुटने को भेजा है, वहीं जहाँ का वली तेरी फिकर भी करेगा ।"[4] हमारे सामने एक बेबाक और ईमानदार औरत आ खड़ी होती है जो अपनी देह को देह भी मानती है पर इसे अंतिम नहीं मानती ।

मित्रो कोई विदुषी नही, जमीन और मिट्टी से जुडी एक साधारण औरत है, जो अपनी ईमानदारी और सहजता की वजह से उस पूरे माहौल में अलग ही दिखाई पड़ती है । वह अपने परिवेश को एक खतरे की तरह देखी और महसूस करती है । वह अपने आस–पास व्याप्त भोग युक्त आकर्षक जीवन के प्रति भी उतनी ही आकर्षित है जितना वह अपने पति की कोमल सानिध्य के लिए

तरसती है । अपनी मांसलता, और देह को पूरी तरह सहजता से जीने वाली नारी चरित्र इसके पहले हिंदी साहित्य में नहीं दिखाई देती ।

साठ के दशक के उपन्यासों में चित्रित नारी सन् 2000 तक आते–आते फिल्म 'अस्तित्व' की आदिति पंडित में नज़र आती है । वह जब अपने पति श्रीकांत पंडित से पूछती है– "बताओ श्री क्या करू मैं अपनी उन इच्छाओं जो मेरी देह में उठती है? तुम्हारी देह में उठने वाली इच्छाएँ, इच्छाएँ और यही इच्छाएँ मेरे लिए पाप?"[5]

कैसी विडंबना है, स्त्री शुचिता से जुड़े जो सवाल। भारतीय समाज में 1966 में मित्रो मरजानी द्वारा पूछे गए, 2000 की फिल्म आस्तित्व तक भारतीय स्त्री उन्ही सवालों से जुझती दिखती है । और आज की फिल्मों की बात करें तो भी मूलभूत मुद्दे वही हैं । उत्तर वैदिक युग की मंत्रोच्चार करती हुई विदुषी स्त्री कैसे वर्तमान की इस दशा में पहुँची यह पूरे समाज के पतन की महागाथा है । सवाल यह उठता है कि क्या हमारा समाज मानसिक रूप से इतना कुंठित है, कि स्त्री–शुचिता अब भी सबसे बड़ा प्रश्न है?

उसी तरह 'दिलो–दानिश'का कथानक एक सामंती हवेली और रईस समाज–व्यवस्था के कृपानारायण है । प्रस्तुत उपन्यास की कथा में कुदम्ब प्यारी जो कि कृपानारायण की वैध पत्नी है और महक बानो अवैध पत्नी, परंतु दोनों किसी न किसी रूप से पुरुष की सामाजिक सत्ता का शिकार बनी हुई है । इस उपन्यास में जिन प्रश्नों को उजागर किया गया है, वे आज भी हमारे समाज में सिर उठाये खडे हैं । आज भी युगीन नारी के जीवन की समस्या बने हुए है । कृपानारायण पत्नी और रखैल में हमेशा अंतर पाते हैं । दोनो गुण व चरित्र में काफी अलग है, अतः अक्सर वे दोनों की तुलना करके स्वयं पर खुश होते हैं । लेखिका के शब्दों में, "हर सड़क पटरी या पगडंडी आखिर अपनी मंजिल पा घर तक पहुँचाती है । पर वकील साहब कहाँ? कभी–कुदुंब के किनारे और कभी महक के । क्या समझाइए जिस्म की राहत चाहिए होती है पर दिलो–दिमाग भी कुछ मांगते ।"[6]

मानव समाज और हिंदी उपन्यास में स्त्री–पुरुष संबंधो का अध्ययन करने के पश्चात माल्ूम होता है की दम्पति में दोनों अथवा एक के विवाह के पूर्व अथवा विवाहोत्तर प्रेम संबंध किसी क्षण भी दोनों के जीवन में पहले शंका, फिर विघटनकारी सिध्द हुए है । "महक अब महक नही जो वकील साहब के प्रेम और विश्वास के सहारे दुनिया को भुलाए बैठी थी, जो अपने अस्तित्व की सार्थकता वकील साहब की खुशियों में तलाशती थी । बल्कि अब तो महक अपने हकों की मांग करती हुई वकील साहब से तर्क वितर्क करने से नहीं चूकती ।"[7] भारत एक धर्मनिरपेक्ष देश है जहाँ विभिन्न धर्म को मानने वाले लोग परस्पर मिलजुल कर रहते हैं । इसकी नैतिकता की जड़े संस्कृति में गहरे तक धंसी हुई है । अतः समाज में दाम्पत्य का जो स्वरूप उखड़ा–उखड़ा दिखाई देता है उसको नष्ट करने में नारी की अंतरात्मा तैयार नहीं है । कृष्णा सोबती के नारी पात्रों को उपन्यासों में अमानवीय अत्याचारों के विरुद्ध एवं अपनी विरोधी परिस्थितियों से लड़ती हुई एवं समाज के समक्ष महत्वपूर्ण सवाल उठाती नज़र आती है । जैसे– क्या नारी का जन्म समाज में इतना विध्वंसकारी है कि उसे मौका देकर मार दिया जाए ।

आज की नारी परम्परागत सामाजिक मूल्यों तथा संस्कारो को नकारते हुए अपनी अधिकारों की माँग करती दिखाई देती हैं । युगीन उपन्यासकारों ने भारतीय नारी जीवन में आधुनिकीकरण के बदलते परिवेश से होने वाले परिवर्तनों को दिखाने का प्रयास किया है साथ ही साथ स्त्री–पुरूष के परस्पर बदलते जीवन सबंधों एवं विघटित समाज को दर्शाया है । लेखिका ने समस्त प्राचीन सामाजिक संस्थाओं की सड़ी गली रूढियों से टक्कर लेकर नारी को इनके विरोध करने तथा क्रांति कर अपने जीवन के मुक्ति हेतु सजग रहने की प्रेरना प्रदान की है ।

आज की नारी पर पाश्चात्य देशों की विभिन्न विचारधाराओं सभ्यता और संस्कृति का प्रभाव भी व्यापक रूप से पडा है । वह आज अपने स्वतंत्र जीवन को जीने के लिए लालायित है । स्त्री–पुरुष संबंधों में समानाधिकार की मांग से परिवार एवं

सामाजिक मान मूल्यों में विघटन की प्रक्रिया के संबंध में क्रांति वर्मा ने लिखा है, "वर्तमान युग में बौध्दिकता के कारण नारी का दृष्टिकोण यथार्थवादी बनता चला गया है ।"[8] आज स्वच्छंद अभिव्यक्ति में बाधक सामाजिक मर्यादाओं–मान्यताओं की संगतता–असंगतता पर विचार किया है । परिवार तथा समाज के परिप्रेक्ष्य में उसकी व्यक्तिगत मान्यताओं को स्वीकृति प्राप्त होने पर सामाजिक मूल्यों में बदलाव आया है ।

स्त्री–पुरुष संबंध के दायरे बदल गए हैं । कृष्णा सोबती के उपन्यासों में पतिव्रता नारी के साथ वेश्या जैसे नारी पात्रों का चित्रण किया गया है । 'डार से बिछुडी' उपन्यास में पाशो दीवान जी की पत्नी मालन बनकर घर आई । तो 'जिंदगीनामा'में बड़ी शाहनी अपने गौरव गरिमा के अनुकूल उदार, सहृय, सहिष्णु, धार्मिक, परिश्रमी व्यवहार कुशल और आदर्श पत्नी है ।

आज सामाजिक बंधन इतने बदल गए हैं कि भारतीय संस्कृति में मर्यादा, शील व लज्जा जैसे शब्द नारी के साथ इस कदर जोड़ दिए गए कि उसके बाहर नारी जीवन की कल्पना भी नहीं की जा सकती । लेकिन नारी अब इन बंधनों से मुक्त हो रही है । जिस स्त्री को पुरुष वर्षों से वस्तु मानकर, भोगता रहा है । वह अब वस्तु से प्रमाण जीव बनकर खड़ी हो रही है । आज की नारी ने स्वतंत्र अस्तित्व को पाने के लिए समाज में संघर्ष किया है जो सामाजिक मूल्यों का विरोध कर व्यक्तिगत स्वतंत्रता प्राप्त करने का प्रयास करती है । आज सामाजिक संबंधों में इतना बदलाव आया है कि सभी व्यक्ति अकेलापन, ऊब, कुंठा और बिखरते सामाजिक संबंधों की मार संपूर्ण समाज पर दिखाई दे रही है । इस प्रकार कृष्णा सोबती द्वारा लिखित उपन्यासों में नारी जीवन एवं उससे जुड़ी विभिन्न विषयों को समाज के समक्ष प्रस्तुत करने का सराहनीय कार्य किया गया है ।

संदर्भ ग्रंथ सूची–

1) कृष्णा सोबती– सूरजमुखी अंधेरे के –पृ.20
2) कृष्णा सोबती– वहीं – पृ.38
3) कृष्णा सोबती– डार से बिछुडी – वहीं – पृ.19
4) कृष्णा सोबती– मित्रों मरजानी – वहीं – पृ.18
5) 'अस्तित्व' फिल्म – महेश मांजरेकर
6) कृष्णा सोबती– दिलो दानिश– पृ.56, 57
7) सिंह रूपा – स्त्री अस्मिता और कृष्णा सोबती – पूर्वादय प्रकाशन नई दिल्ली, 2008
8) कृष्णा सोबती– दिलो दानिश – पृ.57

'फिर लौटते हुए' उपन्यास में व्यक्त वृद्ध जीवन संबंधी नवीन दृष्टि

प्रीतिका एन.
शोधार्थी, हिंदी विभाग
कोचिन विज्ञान व प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय
682022 केरल
मो. नं.– 9746182124
ई–मेल preethikanv1998@gmai l.com

शोध सारांश

भारतीय प्राचीन समाज में वृद्ध प्रायः मुखिया हुआ करते थे उनका आदर सम्मान करना पुण्य माना जाता था । वर्तमान समय में औद्योगीकरण, नगरीकरण, आधुनिकीकरण तथा वैज्ञानिक प्रगति के कारण परम्परागत सामाजिक व्यवस्था में भी व्यापक परिवर्तन देखने को मिलता है । मूल्य एवं आदर्श पूर्णतः बदल चुके हैं । इस बदलते मूल्य परिवर्तन ने वृद्धों को 'बेकार' कर दिया है । समाज में उनका स्थान एवं सम्मान आदि, परिवर्तन के बलि चढ़ चुके हैं । ऐसे में उनका जीवन समस्याग्रस्त महामारी के समान है, जिससे मुक्ति केवल मृत्यु ही दिला सकती है । लेकिन 'फिर लौटते हुए' जैसा उपन्यास इस विचारधारा की कटु आलोचना करता है ।

'वृद्ध', अनुभवी, ज्ञानी व्यक्ति है, जो सामाजिक व्यवस्था के प्रवर्तक एवं नींव के समान है । आज जो व्यक्ति वृद्ध है, वह बीते समय में समाज एवं परिवार का संचालक भी रहा होगा । इसलिए हम उन्हें निसंदेह सामाजिक व्यवस्था एवं संरचना की नींव कह सकते हैं । भारतीय प्राचीन समाज में वृद्ध प्रायः मुखिया हुआ करते थे लेकिन जैसे– जैसे समाज में बदलाव आते गए वृद्ध जीवन एवं उनके प्रति समाज का दृष्टिकोण भी परिवर्तित होने लगा । आधुनिक भारतीय समाज इतना अत्याधुनिक बनता जा रहा है कि, उसे सिर्फ विकास एवं उन्नति ही दिखाई देती है । प्रतिदिन बढ़ते विकासोन्मुक व्यवस्था में संबंधों एवं रिश्तों का दायरा घटता जा रहा है । इस तरह घटते दायरे में वृद्ध समाज अनावश्यक बनते जा रहे हैं, वृद्ध समाज । जिनके प्रति समाज में न पहले जैसा आदर भाव रहा न सम्मान । खोखले एवं संस्कार शून्य आज के समाज के लिए वृद्ध फालतू एवं बेकार वस्तु मात्र है । हर चीज को उपयोगिता की दृष्टि से देखने वाले समाज के लिए वृद्ध केवल अनुपयोगी एवं बेकार वस्तु मात्र है, जिनसे न समाज का कुछ भला होता है न परिवार का । डॉ. शिवकुमार राजौरिया द्वारा वृद्ध जीवन के प्रति कुछ इस प्रकार विचार व्यक्त किए हैं–"जैसे–जैसे मनुष्य अपने आपको वृद्ध मानने लगता है, वह कमजोर महसूस करने लगता है तथा सहानुभूति अर्जित करने की इच्छा रखता है । धीरे–धीरे वह परिधि की ओर जाने के लिए विवश हो जाता है । प्रायः यह देखा जाता है कि जब तक व्यक्ति परिवार के लिए कमाने का यंत्र है तब तक उसकी चलती है लेकिन जैसे ही उसका शरीर उसका साथ देना छोड़ देता है वैसे ही परिवार के सदस्यों के लिए वह एक 'बेकार चीज' बन जाता है । ऐसे में उसका अस्तित्व भी खतरे में पड़ जाता है ।"[1]

इस प्रकार युवावस्था में मान–सम्मान एवं आदर प्राप्त करने वाला युवा वृद्धावस्था में परिवार के लिए बोझ एवं अनावश्यक होता नज़र आता है ।

इस प्रकार वृद्ध समाज का अस्तित्व निरंतर खतरे में पड़ रहा है। समाज की बदलती घिनौनी मानसिकता ने वृद्धों को अस्तित्व हीन एवं हाशियेकृत बना दिया है । इसलिए आज वृद्ध, समाज के हाशियेकृत समुदाय के प्रतिनिधि है । जिनका जीवन घोर संकटों से ग्रस्त है। वृद्ध अपने वृद्धावस्था में शारीरिक समस्याओं से ग्रस्त होते ही है, लेकिन समाज एवं परिवार के बदलते दृष्टिकोण के चलते उन्हें मानसिक तनाव, सामाजिक तिरस्कार, पारिवारिक असुरक्षा, आर्थिक अभाव आदि का भी सामना करना पड़ता है । जो उनके जीवन को कुंठा ग्रस्त एवं दिशाहीन बनाने के कारण बनते हैं । इस दिशाहीन जीवन से उन्हें केवल मृत्यु ही मुक्त करा सकती है । इस प्रकार वृद्धों के प्रति बदलती सामाजिक व्यवस्था से साहित्य भी अछूता नहीं है । इसलिए ही समकालीन साहित्य में वृद्ध जीवन की अति सूक्ष्म अभिव्यक्ति देखने को मिलती है । समकालीन साहित्य अपने पूर्ववर्ती साहित्य से भिन्न यथार्थ के अधिक निकट है । तदानुसार इसे सच्चे जीवनानुभवों से युक्त साहित्य कह सकते हैं । जब बात सच्चे जीवनानुभवों की अभिव्यक्ति की हो रही है तो उपन्यास साहित्य का उल्लेख करना भी जरूरी हो जाता है । कथा साहित्य के अंतर्गत उपन्यास रचना अपने विशालकाय साहित्य में कभी काल्पनिक कथा के माध्यम से तो कभी यथार्थ परक कथानक के जरिए सच्चे एवं यथार्थ जीवन स्थितियों की सटीक–सहज प्रस्तुति करता है, जो पाठकों को मनोरंजित तो करता ही है, साथ ही साथ गंभीर चिंतन मनन के लिए भी प्रेरित करता है ।

इस दृष्टि से राकेश वत्स कृत 'फिर लौटते हुए' उपन्यास भी अत्यंत विचारणीय है । प्रतिदिन बदलते वृद्ध जीवन की ओर समकालीन उपन्यासकारों ने ध्यान खींचने का प्रयास किया है । गिलिगडु, अंतिम अरण्य, रेहन पर रग्घू, दौड़, कमबख्त इस मोड़ पर, आदि उपन्यास इस प्रयास के कागज़ी अभिव्यक्ति है । लेकिन राकेश वत्स का 'फिर लौटते हुए' इस उपन्यासों से भिन्न वृद्ध संबंधी नवीन जीवन दृष्टि को प्रस्तुत करता है । राकेश वत्स हिंदी साहित्य जगत में राष्ट्रीय स्तर पर ख्याति प्राप्त मस्तमौला स्वभाव के अनूठे रचनाकार हैं । जिन्होंने अपने अनोखे रचना कौशल से केवल उपन्यास साहित्य को ही नहीं कहानी आदि विधाओं को भी सम्पन्न एवं समृद्ध किया है । 'फिर लौटते हुए' भी इनके इसी रचना कौशल का सफल द्योतक है । अपने अनूठेपन से इस उपन्यास ने वृद्ध जीवन संबंधी नवीन सोच को सामने रखने का प्रयास किया है । हर एक वृद्ध केंद्रीत साहित्यिक कृति की तरह इस उपन्यास का आरंभ भी एक कमजोर, शरीर से शिथिल वृद्ध दिवाकर शर्मा से होता है उदाहरण स्वरूप– "दो पल बाद ही पिछली सीट पर बैठे माँ–बाप उनकी आंखों के सामने थे । पीले चेहरे, सिकुड़े हुए शरीर और आँखों में तैर रही मदद पाने की अथाह इच्छा । पिता को टैक्सी से बाहर आने के लिए भी माँ और बसंत के कंधों का सहारा लेना पड़ा ।"[2]

दिवाकर शर्मा, उपन्यास के प्रमुख पात्र के रूप में हमारे सामने आते हैं । एक कमज़ोर सा वृद्ध जिसके जीवन में अब कोई उम्मीद शेष नहीं है । अपने छोटे पुत्र बलबीर के घर से चंद्रमोहन (बड़ा बेटा) के घर आए दिवाकर शर्मा को चंद्रमोहन के तिरस्कार एवं घृणा का सामना करना पड़ता है । चंद्रमोहन के लिए उसका पिता एक असफल पिता है । जो अपनी जिम्मेदारियाँ निभाने में असमर्थ रहे । इसी सोच के चलते चंद्रमोहन एवं दिवाकर शर्मा के बीच तनाव एवं संघर्ष का माहौल देखने को मिलता है । "फर्ज़ पिता का पहले होता है बसंत और बेटे का बाद में । इनको पूछिए कि इन्होंने कौन सा फर्ज निभाया था जो हम इनके प्रति निभाएँ ।"[3] इस प्रकार दिवाकर शर्मा को कड़े तिरस्कार का सामना करना पड़ता है । अपनी पूर्व कालीन गलतियों से अवगत दिवाकर शर्मा भी अपने आप को दोषी मानता है । जो मानसिक तनाव एवं पारिवारिक संघर्ष का कारण बनते हैं । "मैं तुम्हारा मुजरिम हूँ बेटा, तुम्हारे युवा जीवन का मुजरिम । माँ–बाप जान–बूझकर तो बच्चों को कष्ट नहीं पहुँचाते, हालात ही कुछ ऐसे होते हैं जिनमें माँ –बाप भी फंसकर रह जाते हैं । फिर भी हम दोनों से अनजाने में कोई भूल– चूक हो गई हो तो उसके लिए हम तुमसे मुआफी माँगते हैं । शर्मा जी के जुड़े हुए कमजोर हाथ थर–थर काँपने लगे ।"[4] इन तिरस्कारों एवं मानसिक तनाव से मुक्ति के लिए घर त्यागने का निर्णय दिवाकर शर्मा लेते हैं । इसी निर्णय से संपूर्ण उपन्यास की काया पलट जाती है । उपन्यास का पूर्वार्ध

एवं उत्तरार्ध एक–दूसरे से बिल्कुल ही पृथक है । जहाँ पूर्वार्ध में दिवाकर शर्मा केवल एक कमज़ोर, बेसहारा बूढ़ा व्यक्ति है, वहीं उत्तरार्ध तक आते–आते दिवाकर शर्मा की छवि ही बदल जाती है । जो उपन्यासकार के वृद्ध संबंधी नवीन दृष्टिकोण की ओर इशारा करता है । घर का त्याग कर दिवाकर शर्मा अपने गाँव खानपुर चले जाते हैं । इतनी दूर पहाड़ आदि का सफर तय करने के बाद शर्मा जी को यह एहसास होता है कि, वे अपने आप को जितना कमजोर समझते थे, वास्तव में उतने है नहीं । "इस सारे सफर में एक बात से उन्हें आश्चर्य हुआ, शरीर से वे पूरी तरह से स्वस्थ रहे। शायद इसलिए की सक्रियता ने उनकी मांसपेशियों को खोल दिया और मानसिक व्यस्तता ने अकेलेपन से पैदा होने वाली खिन्नता भी हर ली ।"[5] इसी एहसास ने उनके जीवन को नई राह दी । जिस बुजुर्ग पिता के दिल के मरीज होने के संदेश से बेटा उनके चिता की फिक्र कर रहा था, वही पिता मीलों सफर कर अपने जीवन में नवीन राहों की तलाश करते हैं । इस प्रकार दिवाकर शर्मा कई स्थानों में जाते हैं, और पुराने मित्रों से मिलते हैं । जो उनके जीवन को नई ऊर्जा प्रदान करते हैं । इस बीच कई बातें एवं छोटे बेटे के धोखे आदि से भी वे अवगत होते हैं, और यह निर्णय लेते हैं कि, वे अपने उम्मीदहीन जीवन के सहारे दूसरों के लिए उम्मीद बनेंगे । यही निर्णय उन्हें समाज सुधार (सरकारी अस्पताल आदि के हालातों में सुधार करना) की ओर अग्रसर करता है । साथ ही साथ अपने कमजोरियों से लड़कर घर में अपनी खोई हुई इज्जत एवं सम्मान की पुनः प्रतिष्ठा कर बेटे द्वारा धोखे से हत्यायी गई संपत्ति को पुनः प्राप्त करने का भी प्रयास करते हैं । "दिवाकर शर्मा अपने ही घर से बेघर होकर धर्मशाला के एक कमरे में जाके टिक गए।... अपने ही घर को अपने जाबर बेटे से खाली करवाने के लिए वकीलों के दफ्तरों की खाक छानने लगे ।"[6] इस तरह अपनी लाख परेशानियों एवं समस्याओं के बाद भी दिवाकर शर्मा दूसरों के लिए उम्मीद बनते हैं । सरकारी अस्पताल के बुरे हालातों को देखकर उसे सुधारने का जिम्मा अपने बूढ़े कंधों पर लेते हैं । पहले अकेले और बाद में अपने जैसे कई वृद्धों का साथ उन्हें इस कार्य में मिलता है । "जो बात देश के युवाओं में देखनी चाहिए थी वह बुजुर्ग लोगों में दिखाई दे रही है । हो सकता है इस देश का उद्धार इन सीनियर सिटीजनों के हाथों में ही लिखा हो ।"[7] इस प्रकार राकेश वत्स द्वारा लिखित 'फिर लौटते हुए' उपन्यास के माध्यम से वृद्ध जीवन के प्रति समाज के दृष्टिकोण में अमुलचुल परिवर्तन करने का सफलतम प्रयास इस उपन्यास को विशिष्टता प्रदान करता है ।

निष्कर्ष

इस प्रकार दिवाकर शर्मा अपने जीवन को ही नहीं बल्कि कई ऐसे निस्सहाय वृद्धों के जीवन में नवीन उम्मीद का दीप जलाकर उनके जीवन को प्रकाशमा करते हैं एवं उनके जीवन में नवीन ऊर्जा का संचार करते हैं, जो अपने जीवन से थक चुके हैं । अपने उम्मीद हीन जीवन से उम्मीद को ढूंढ निकालकर वे अपने घर परिवार में खोई हुई इज्जत, सम्मान एवं स्थान को वापस हासिल करते हैं । अंत में मृत्यु से भी लड़कर एक नवजात शिशु के भांति पुनः जीवन रूपी सफर को आत्मसात करते हैं, किसी खास मकसद की पूर्ति के लिए । इस तरह उपन्यासकार ने दिवाकर शर्मा के सफर के माध्यम से वृद्ध जीवन संबंधी नवीन दृष्टिकोण को सामने रखा है । समाज द्वारा कमजोर समझे जाने वाले बुजुर्ग यदि तनावग्रस्त माहौल से बाहर निकलकर अपने जीवन में नवीन राह तलाशने का प्रयास करेंगे तो, उन्हें उनका वृद्धावस्था जीवन का अंत नहीं बल्कि नवीन आरंभ सा प्रतीत होगा, और जीवन में उम्मीद की लौ जलाने के लिए उन्हें किसी की आवश्यकता नहीं है । वे खुद ही इतने सक्षम होते हैं कि, हर एक कार्य को सफलता से पूर्ण कर अपने ही नहीं संपूर्ण समाज का संचालन फिर से कर सकते हैं । इसलिए वृद्धावस्था कोई कमजोर, शिथिल जीवनावस्था मात्र नहीं है, बल्कि वह जीवन के कटु सत्यों से अनुभव प्राप्त ऐसे जीवन की अवस्था है जो अपने अनुभव एवं ज्ञान के द्वारा एक नवीन पहल करने में समर्थ है । अपने ज्ञान के अनुभव के आधार पर वह समाज का मार्गदर्शन करने में पूर्णरूपेण समर्थ होते हैं । अतः वृद्धावस्था जीवन की अंतिम न होकर प्रौढ़तम ज्ञान की अवस्था है । अतः युवा पीढी को इस वृद्ध जीवन से ज्ञान अर्जित कर अपने जीवन को सफल बनाया जा सकता है ।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1) डॉ. शिवकुमार राजौरिया, वृद्धावस्था विमर्श और हिंदी कहानी, अद्वैत प्रकाशन, दिल्ली, 2017, शुभाशंसा से

2) राकेश वत्स, फिर लौटते हुए, राजपाल एँड संज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली, 2003, पृ. 12

3) वही, पृ.32

4) वही, पृ.32

5) वही, पृ.63

6) वही, पृ.110-111

7) वही, पृ. 163

साहित्याकाश

भारतीय संस्कृति और गौरव बोध

डॉ. पोपट भावराव बिरारी
सहायक प्राध्यापक
कला, वाणिज्य व विज्ञान महाविद्यालय त्र्यंबकेश्वर, जि. नासिक
ईमेल– popatbirari@gmail.com
मो. 9850391121

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, वह समाज में रहता है । सामूहिक रूप से ही अपनी समृद्धि एवं विकास हेतु प्रयत्नशील होता है । उसके लिए यह महत्वपूर्ण था, कि वह समूह में रहते हुए अपने साथ ही अन्य व्यक्तियों के साथ क्या संबंध रखें । उसने बुद्धि द्वारा बौद्धिक रूप से विचार किया और धीरे–धीरे उन सामाजिक संस्थाओं का विकास किया; जिसमें उसका हित निहित हो । परिवार, जन, राज्य आदि जिन विविध संस्थाओं का मनुष्य ने विकास किया, वे सब उनके सामाजिक एवं सामूहिक जीवन की ही अभिव्यक्ति करते हैं । मनुष्य ने अपने जीवन को सुखमय बनाने के लिए संगीत, साहित्य और कला का अनुसरण किया तथा उसे भली–भांति विकसित करके अपने जीवन को सुसंकृत बनाने का महत्वपूर्ण प्रयास किया ।

'संस्कृति' इस शब्द के अर्थ को विविध विद्वानों ने प्रतिपादित किया है । आ. रामचंद्र वर्मा के अनुसार "संस्कार करने अर्थात किसी वस्तु को संस्कृत रूप देने की क्रिया या भाव ।"[1] संस्कृति का अर्थ परंपरा से चली आ रही आचार–विचार तथा रहन–सहन आदि की जीवन पद्धति है । सत्यकेतु विद्यालंकार का कथन है कि– "मनुष्य अपनी बुद्धि का प्रयोग कर विचार और कर्म के क्षेत्र में जो सृजन करता है, उसी को संस्कृति कहते हैं ।"[2] अतः मनुष्य ने धर्म का जो विकास किया, दर्शनशास्त्र के रूप में जो चिंतन किया, साहित्य, संगीत और कला का जो सृजन किया, सामूहिक जीवन को हितकर और सुखी बनाने के लिए जिन प्रथा एवं संस्थाओं को विकसित किया है; उन सब का समावेश 'संस्कृति' में होता है । संस्कृति केवल एक व्यक्ति का परिणाम नहीं होती अपितु वह समाज के अनगिनत व्यक्तियों के सामूहिक प्रयत्न का परिणाम है । यह प्रयास मनुष्य की संताने निरंतर करती रहती है । इसी कारणवश संस्कृति का हमेशा विकास होता गया । वह एक युग में न होकर कई युगों के मनुष्य के सामूहिक परिश्रम का परिणाम है । इस पृथ्वी पर कई वर्षों से मनुष्य समूह में रह रहे है । हर समूह की प्राकृतिक एवं भौगोलिक परिस्थितियाँ एक समान नहीं है । ऐसे ही विभिन्न प्रदेशों में निवास करने वाले लोगों के समूहों की संस्कृति का विकास विभिन्न प्रकार से रहा है । भारत की संस्कृति अन्य देशों से अनेक अंशो में भिन्न है और उसकी अनेकानेक विशेषताएँ रही हैं । अतः भारतीय संस्कृति का इतिहास गौरवशाली है ।

किसी भी देश की संस्कृति वहां के धर्म, दार्शनिक विचार, साहित्य एवं कला के रूप में अभिव्यक्त होती है । भारत की संस्कृति ने अपने को जिस रूप में अभिव्यक्त किया उसकी मुख्य विशेषता अध्यात्म भावना रही हैं। इस संसार में कोई ऐसी परम सत्ता है; जो जीवन एवं शक्ति प्राप्त करके यह प्रकृति फल–फूल रही हैं। यह विचार इस देश में सदा से ही चलता आया है । यह विश्वास हम सब में विद्यमान हैं, हम सब उसी परम सत्ता के अंश हैं । बौद्ध को राम और कृष्ण की तरह भगवान का अवतार माना गया है तथा उसकी पूजा होने लगी है । विविध धार्मिक आंदोलनों एवं परंपराओं में आर्य लोग सदा समन्वय स्थापित करते रहे है ।

हिंदू धर्म में अनेक मत संप्रदाय रहे हैं । इनकी मूल शक्ति वही आध्यात्म भावना रही हैं, जो भारतीय संस्कृति की प्रमुख विशेषता है । इसलिए उनमें विरोध के बावजूद भी समन्वय स्थापित होता रहा । इस्लाम के संपर्क में अन्य प्राचीन धर्म नष्ट हो गए किंतु भारत का धर्म कायम रहा। भारत के विचारको ने तो इस्लाम धर्म के साथ भी अपने धर्म के समन्वय का प्रयत्न किया है । मुसलमानों का सूफी संप्रदाय भारत के अध्यात्मवाद, योग–साधना और रहस्यवाद का मुस्लिम संस्करण है । मुस्लिम पीरों के मकबरे बनाकर उनकी पूजा करना भारतीय संस्कृति की ही देन है । राम एवं रहीम, कृष्ण और करीम के एकता के प्रतिपादन द्वारा इस देश के अनेक संतों ने इस्लाम और हिंदू धर्म में समन्वय का प्रयत्न किया है ।

भारत की प्राचीन संस्कृति की परंपरा अब तक अक्षुण्ण रही है । बर्मा, लंका, तिब्बत आदि के धर्म लुप्त हो गए, उनका स्थान भारत से ही गए बौद्ध धर्म ने ले लिया पर भारत में बौद्ध धर्म हिंदू धर्म में ही विलीन हो गया । "भारतीय संस्कृति की अध्यात्म–प्रधान मूल भावना सबसे अपने को और अपने में सबको देखने की प्रवृत्ति और समन्वय के विचार ही इसमें प्रधान कारण थे ।"[3] विविध संप्रदायों के प्रति सहिष्णुता और सम्मान की भावना भारतीय संस्कृति का प्रधान अंग है । सम्राट अशोक द्वारा भारत के संपूर्ण इतिहास में ओतप्रोत है । इसलिए वहां धार्मिक दृष्टि से राजाओं ने अत्याचार नहीं किए और न ही सांप्रदायिक युद्ध हुए । परंतु जो कुछ सांप्रदायिक संघर्ष के एक दो उदाहरण मिलते हैं, वे अपवादात्मक रहे हैं । भारतीय संस्कृति की मुख्यधारा को वे सूचित नहीं करते ।

भारतीय विचारधारा सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह पर बड़ा जोर देती है । हमारे देश की वैयक्तिक एवं सामाजिक साधना के लिए यह मूल सूत्र रहे हैं । आदर्शों का पालन करना हमारे प्राचीन परिवारजनों ने जीवन के लक्ष्य को प्राप्त करने का प्रयत्न किया, व हमारे समाज एवं देश ने भी उन्हीं की साधना में अपनी शक्ति को लगाया है । इस देश के राजा पराक्रमी रहे हैं तथा उन्होंने सदा आदर्श निर्माण किए हैं । सिर्फ भारत में ही नहीं अपितु उसके बाहर भी अपने साम्राज्य को विस्तृत करने का प्रयास किया है । अध्यात्म के कारण भारत की संस्कृति में ऐसा सौंदर्य आ गया है, जो इस देश की संस्कृति की अनुपम देन है । "इस देश की कला, कविता, संगीत, विज्ञान–सर्वत्र इस आध्यात्म भावना की छाप दिखाई देती है । यही कारण है कि भारत के अनेक प्राचीन कलाविद संस्कृत और नृत्य तक को भी परमतत्व की प्राप्ति का साधन मानकर उसकी साधना में प्रयत्नशील हुए ।"[4] वैसे ही वर्तमान समय में योग का महत्व समाप्त नहीं हुआ है, अपितु संपूर्ण विश्व ने उसे स्वीकारा है और आज वैश्विक स्तर पर 21 जून को योग दिवस के रूप में मनाया जाता है । यह भारत की बहुत ही बड़ी उपलब्धि है, जो प्राचीन काल से वेदो तथा ऋषि–मुनियों से प्राप्त एवं संवर्धित है । संसार सुख और भोग हेय नहीं है । उनको प्राप्त करना हर मनुष्य के लिए आवश्यक है किंतु साथ ही यह जान लेना और भी अधिक आवश्यक है, कि ऐहिलौकिक सुख ही मनुष्य का अंतिम धेय नहीं है । ऐसे विचारों ने भारत की संस्कृति में अनुपम सौंदर्य ला दिया है । शरीर, मन एवं आत्मा, इहलोक और परलोक, भौतिक सुख और आध्यात्मिक सुख सब क्षेत्रों में एक साथ उन्नति द्वारा ही मनुष्य अपनी उन्नति कर सकता है । मनुष्य जहां धर्म, अर्थ और काम को प्राप्त करके या केवल मोक्ष साधना में तत्पर होकर अपनी अंतिम उन्नति नहीं कर सकता । धर्म का अनुसरण कर अर्थ की उपलब्धि करने, धर्मानुसार 'काम' का सेवन करने और मोक्ष को अंतिम लक्ष्य बनाकर ही मनुष्य अपनी सर्वांगीण उन्नति कर सकता है ।

भारतीय संस्कृति अनेक तत्वों के सम्मिश्रण का परिणाम है । भारतीय संस्कृति द्रविड़, आर्य, बौद्ध, यवन, शक, अफगान, मुगल एवं ब्रिटिश संस्कृतियों के तत्वों के सम्मेलन का परिणाम है । यद्यपि इसकी मूल वह मुख्य धारा आर्य है, किंतु यवन, शक, मुस्लिम एवं ईसाई धाराओं ने भारतीय संस्कृति की इस मूल धारा को समृद्ध व विशाल बनाने में बहुत महत्वपूर्ण कार्य किया है । सत्यकेतु विद्यालंकार के अनुसार "समन्वय और सामंजस्य की भावना भारतीय संस्कृति की एक महत्वपूर्ण विशेषता रही है और धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र का आदर्श भारत की ऐसी सांस्कृतिक विशेषता का परिचायक है ।"[5] अतः भारतीय संस्कृति सभी धर्मों की

धरोवर है । अतः द्रविड़, आर्य, ग्रीक, शक, कुशाण, हूण, अफगान, मुगल आदि कितनी ही विविध जातियों के विचारों, विश्वासों और परंपराओं के सम्मिश्रण से विकास हुआ है । "इस देश के निवासी अन्य लोगों के विचारों व विश्वासों का सदा आदर करते रहे और उन्हें अपने में मिलाने के लिए सदा तत्पर रहें । अध्यात्म भावना के कारण जो सहिष्णुता यहाँ के लोगों में उत्पन्न हुई, उसी से यह बात संभव हो सकी ।"[6] भारत ने अपनी जिस अनुपम संस्कृति को विकसित किया उसे संसार में प्रसारित करने का कार्य भी इस देश के लोगों ने किया । भारत के निवासियों ने अपने सुदीर्घकालीन इतिहास में अपने जीवन को जिस प्रकार विकसित किया तथा धर्म, दर्शन राजनीति, ज्ञान, विज्ञान, साहित्य, संगीत एवं कला आदि के क्षेत्रों में जिस प्रकार उन्नति की है। वह इतिहास एवं संस्कृति की दृष्टि से भारतीय गौरव की बात है ।

भारत में केवल हिंदू ही नहीं अपितु मुसलमान, पारसी एवं ईसाई एक ही संस्कृति के रग–रग में रगे हुए हैं । यह संस्कृति हिंदू–मुसलमान एवं आधुनिक संस्कृतियों के सम्मेलन से बनी है । भारत के मुसलमान अपने विचारों रीति–रिवाजों एवं अभ्यास की दृष्टि से अरब एवं तुर्की मुसलमानों से बहुत ही भिन्न हैं । भारतीय मुसलमानों के पूर्वज हिंदू ही थे, फिर भी धर्म परिवर्तन के संस्कारों एवं परंपरागत विचारों में मौलिक परिवर्तन नहीं हुआ । उसी प्रकार आंध्र, तमिलनाडु, बंगाल, गुजरात आदि में विभिन्न भाषा–भाषी जो जनसमुदाय निवास करते हैं वह सब एक संस्कृति के ही हैं । राम एवं कृष्ण के आदर्श, अर्जुन एवं भीम के पराक्रम एवं नानक, तुलसी, कबीर और रहीम के उपदेश समान रूप से प्रभावित करते हैं ।

भारत की सीमाएँ प्राकृतिक दृष्टि से अत्यंत सुंदर हैं । उत्तर में हिमालय की ऊंची एवं दुर्गम पर्वत श्रृंखलाएँ हैं; तो पूर्व, दक्षिण तथा पश्चिम में यह देश महासमुद्र से घिरा हुआ है । इसके उत्तर–पश्चिम एवं उत्तर–पूर्वी कोनों पर समुद्र नहीं है किंतु उनकी सीमा निर्धारण करने के लिए हिमालय की पश्चिमी और पूर्वी पर्वत श्रृंखलाएँ दक्षिण की ओर मुड़ गई है और समुद्र तट तक चली गई है । भारत के निवासी गंगा, यमुना, गोदावरी, सरस्वती, नर्मदा, सिंधु और कावेरी इन सात नदियों को पवित्र मानते हैं । प्रकृति ने भारत को एक विशाल दुर्ग समान बनाया है; जो पर्वत श्रृंखलाओं और समुद्र से घिरा हुआ है । वासुदेव उपाध्याय के अनुसार "कालिदास के ग्रंथों में सभी बातों का वर्णन विशद रूप से पाया जाता है । अजंता की चित्रकारी संसार प्रसिद्ध है । पहाड़ी चट्टानों को काटकर अजंता की गुफाएँ बनाई गयी ।"[7] इन को देखने से तत्कालीन वेशभूषा रहन–सहन का सही पता लग जाता है चित्र में जीवन के प्रति आनंद भावना दृष्टिगोचर होती है ।

भारत के निवासियों में बहुतसंख्य आर्य जाति की संख्या है । भारत की दृष्टि से भारत में आर्य भाषाओं की बोली बोलनेवालों की संख्या भी अधिक है । उत्तर भारत की लगभग सभी भाषाएँ आर्य परिवार की है । उसमें उड़िया, हिंदी, पंजाबी, पश्तो, कश्मीरी, गुजराती, असमीया, बंगला, मराठी, सिंध, लहदा यह सब आर्य भाषाएँ ही हैं । भारत की आर्य परिवार की भाषाओं में हिंदी सबसे प्रमुख है । इसके बोलनेवालों की तादाद भारत में सर्वाधिक है । इसलिए यह वर्तमान समय में भारत की सर्वाधिक प्रयुक्त होने वाली संपर्क भाषा है । साहित्यिक उपयोग के लिए हिंदी का जो रूप प्रयुक्त होता है वह कुरु देश में बोली जाने वाली खड़ी बोली का परिष्कृत रूप है । सर्व साधारण जनता की बोलचाल में हिंदी भाषा के जो विभिन्न रूप प्रयुक्त होते हैं, उनमें खड़ीबोली, ब्रजभाषा, बांगरू, राजस्थानी, पंजाबी, बुंदेली, अवधी, छत्तीसगढ़ी, बघेली, भोजपुरी, मैथिली, मगही, कुमाऊंनी, गढ़वाली और कन्नौजी प्रमुख है । भारत के जिन प्रदेशों में आजकल आर्य परिवार की विविध भाषाएँ बोली जाती हैं; उनमें प्राचीन काल में भी आर्य भाषाएँ ही प्रचलित थी । संस्कृत, पालि, प्राकृत एवं उनके अपभ्रंश विविध समय में इन प्रदेशों में बोले जाते थे । वस्तुतः भारत की आधुनिक आर्य भाषाएँ इन प्राचीन आर्य भाषाओं से ही विकसित हुई हैं । सत्यकेतु विद्यालंकार के अनुसार "जिन प्रदेशों में आजकल आर्य भाषाओं का चलन नहीं है, उनकी भाषाओं पर भी प्राचीन आर्य भाषा संस्कृत का गहरा प्रभाव है । उनमें संस्कृत के शब्द बहुत बड़ी संख्या में विद्यमान हैं और उन प्रदेशों के विद्वान संस्कृत का अध्ययन करना अत्यंत गौरव की बात

समझते हैं ।"[8] इसके अतिरिक्त भारत के दक्षिण में द्रविड़ लोगों की द्रविड़ भाषा बोली जाती है । वाचस्पति गैरोला के अनुसार "इस भारतीय सभ्यता और संस्कृति का इतिहास चिरंतन एवं शाश्वत मानव मूल्यों पर आधारित है, जिन्होंने एक निश्चित जीवन पद्धति का निर्माण किया और इसलिए जिनका महत्व सार्वदेशिक तथा सार्वकालिक बना रहा है ।"[9] रामायण, महाभारत, यह मनुष्य को सत्य और नैतिकता का उपदेश देते हैं । संस्कृति की यह एकता ऐसी हैं जो नस्ल भाषा आदि के भेद की अपेक्षा अधिक महत्व की है । अतः इसी के कारण भारतीय अपने को चीनी, ईरानी, अरब, अंग्रेज आदि अन्य राष्ट्रीयताओं से भिन्न समझते हैं और अपने को एक मानते हैं ।

निष्कर्षतः स्पष्ट है कि भारतीय संस्कृति में विविधता में एकता है । प्रादेशिक आधर पर भले ही भाषा, कला, वेशभूषा, त्योहार, रहन सहन आदि की दृष्टि से कुछ मात्रा में अलग हो, लेकिन भारतीय सांस्कृतिक दृष्टि से एक है । प्राचीन काल से जो इस भूमि के मानव पर संस्कार हुए है, वह आज के समकालीन परिप्रेक्ष्य में भी दिखाई देते है । इसी कारण मुसीबत के समय में भी भारतीय लोग मानसिक रूप से डावाडोल नहीं होते वरन वह वीरों के शौर्य, सांस्कृतिक मूल्यों की जो सीख विरासत में मिली है उस राह पर चलकर वैश्विक स्तर पर भारतीय संस्कृति का गौरव बढ़ा रहे हैं । भारत में अनेकानेक जाति, धर्म के लोगनिवास करने पर भी उनमें सांस्कृतिक एकता की भावना विद्यमान है ।

संदर्भ ग्रंथ –

1. संपा. रामचंद्र वर्म्मा, मानक हिंदी कोश (पांचवा खंड), हिंदी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, प्र.सं. 1966, पृ. 243
2. सत्यकेतु विद्यालंकार, भारतीय संस्कृति का विकास, श्री. सरस्वती सदन मसूरी, प्र.सं.1979, पृ.11
3. वही, पृ. 14
4. वही, पृ. 16
5. सत्यकेतु विद्यालंकार, भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास (द्वितीय भाग), सर्वोदय साहित्य मंदिर, प्र.सं. 1953, पृ. 792
6. सत्यकेतु विद्यालंकार, भारतीय संस्कृति का विकास, श्री. सरस्वती सदन मसूरी, प्र.सं.1979, पृ.17
7. वासुदेव उपाध्याय, भारतीय गौरव, भारती – भंडार लीडर प्रेस इलाहबाद, तृ.प्र. 2007, पृ.166
8. वही, पृ. 26
9. वाचस्पति गैरोला, भारतीय संस्कृति और कला, हिंदी ग्रंथ अकादमी लखनऊ, प्र.सं.1973, पृ. 32

नारी समस्या को उजागर करता उपन्यास शकुन्तीका : एक विवेचन

डॉ . अमलपुरे सूर्यकांत विश्वनाथ
अध्यक्ष हिंदी विभाग
डॉ . श्री . नानासाहेब धर्माधिकारी महाविद्यालय गोवे– कोलाड ,
तहसील – रोहा , जिला – रायगड , महाराष्ट्र , पिन– 402304
मो नं 9766731470/9421451703
ईमेल – sureshamalpure @ gmail. com

सारांश : –

हिंदी साहित्य में 21 वी सदी के प्रसिद्ध उपन्यासकारों में भगवानदास मोरवाल जी का नाम प्रमुख है । लगभग उनके 11 उपन्यास प्रसिद्ध हो गए है । इनका सर्व प्रसिद्ध उपन्यास नारी समस्या को उजागर करने वाला शकुंतिका माना गया है । जिसका अर्थ है 'गौरैया' जो नारी का प्रतीकात्मक नाम भी है । इस उपन्यास का प्रकाशन 2020 में राजकमल प्रकाशन दिल्ली से हुआ है । भारतीय समाज में नारी का जीवन और उनकी समस्याओं को उजागर करने की कोशिश लेखक ने की है । यह समस्या वर्तमान में प्रमुख है । सरकार घोषणा कराती है 'बेटी बचाओ, बेटी पढ़ाओ' किन्तु यह सफल उक्ति कितनी हो रहीं है हम सब जानते हैं । अगर समाज का विकास करना हो तो ऐसे उपन्यास और लेखकों की आवश्यकता है जो समाज का यथार्थ चित्रण अपने उपन्यासों में करते हैं । समाज की मानसिकता बदलने की कोशिश मोरवाल जी ने प्रस्तुत उपन्यास के माध्यम से की है । ग्रामीण जीवन के आधुनिक चितेरे, जनपदीय गंध और उसकी लोकसंस्कृति में रचे–बसे भगवानदास मोरवाल ने अपनी अदम्य व् जिजीविषापूर्ण कथा यात्रा में एक अलग पहचान बनाई है । आधुनिक काल में पैदा हुई अनेक विसंगतियों को चित्रित करता है यह उपन्यास 'शकुन्तीका' । यह उपन्यास परम्परा एवं आधुनिकता के द्वंद्व और नारी के बदलते परिदृश्य को उद्घाटित करते हुए पात्रों की जीवंत स्थिति को उकेरता है ।

कुंजी शब्द : अकेलापन, पुरुषवादी, शकुन्तीका, आधुनिक विमर्श, स्त्री सशक्तिकरण, लोकजीवन, मानसिक परिवर्तन आदि ।

अनुसंधान पद्धति :– सर्वेक्षणात्मक एवं विश्लेषणात्मक अनुसंधान पद्धति ।

अनुसंधान के उद्देश्य :–

1] भगवानदास मोरवाल के हिंदी साहित्य में योगदान को देखना ।

2] ग्रामीण जीवन का यथार्थ और नारी समस्या को देखना ।

3] शकुन्तीका उपन्यास में नारी स्थिति को देखना ।

4] शकुन्तीका उपन्यास में नारी को प्रेरणा देने वाली पात्र पीहू को देखना ।

प्रस्तावना :–

हम कहते है कि 'यत्र नार्यस्तु पूजन्ते, रमन्ते तत्र देवता'। लेकिन वास्तविक जीवन में इसका अनुपालन नहीं होता है । इसलिए समाज में ग्रामीण से शहरी भागों में नारी की दुर्दशा दिखाई देती है । उपन्यास शकुन्तीका भारतीय समाज के इसी रूढ़िवादी सोच के साथ–साथ समयानुकूल धीरे –धीरे नारी के प्रति समाज की बदलती मानसिकता का आख्यान है । कहते है कि

बेटियाँ घर की रौनक होती है । सुख–दुख में हमारे काम आती हैं । गौरैया की तरह हमारे आंगन में फुदकती और चहकती है परंतु आज के युग में गौरैया विलुप्त होती जा रही है, यही सन्देश इस उपन्यास में दिया है ।

ऐसे महान उपन्यासकार का जन्म 23 जनवरी 1960 में हरियाणा के काला पानी कहे जाने वाले मेवात के जिला नूह के नगीना गाँव में हुआ । इनकी प्राथमिक शिक्षा गाँव में ही हुई तथा उच्च शिक्षा एम्. ए. हिंदी और पत्रकारिता उतीर्ण कर इन्होंने स्वतंत्र लेखन कार्य प्रारंभ किया । उनका लेखन हमेशा अछूते विषयों पर ही दिखाई देता है । इनकी रचनाएँ परम्परा, विकास , लोकतंत्र तथा जनता को वाणी प्रदान करने वाली हैं । इनके उपन्यास की अंतर्वस्तु के साहित्यिक एवं समाजशास्त्रीय महत्त्व को बहुत बार प्रशंशित किया गया है । इनकी प्रमुख रचनाएँ अग्रलिखित है–

काला पहाड़–1999, बबल तेरा देस में–2004, रेट–2008, नरक मसीहा–2014, हलाला–2015 , सुर बंजारन –2017, वंचना–2019, शकुन्तीका–2020, खानजादा –2021, मोक्षवान –2023, काँस –2024 आदि ।

कहानी संग्रह :– सिला हुआ आदमी, सूर्यास्त से पहले, अस्सी मॉडल उर्फ़ सुभेदार, सीढियाँ, माँ और उसका देवता, लक्ष्मण रेखा, धूप से जले सूरजमुखी, मेहराब और अन्य कहानियाँ ।

कविता संग्रह :– दोपहरी चुप है ।

सम्मान :– दर्जनों पुरस्कार मिले हैं । उनकी रचनाएँ भारत के कई विश्वविद्यालओं के स्नातक तथा परा स्नातक पाठ्यक्रम में शामिल की गई है । यही उनकी सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि मानी जाती है ।

शकुन्तीका उपन्यास में नारी समस्या

प्रस्तुत उपन्यास शकुन्तीका में पारिवारिक मूल्यों के पुनः स्थापन करने की कोशिश लेखक ने की है । आधुनिक काल में भी भारतीय समाज में पैदा हुई विसंगतियों, सामाजिक आग्रह–दुराग्रा, परंपरा एवं आधुनिकता के द्वंद्व और नारी के बदलते परिदृश्य को उद्घाटित करते हुए पात्रों की जीवंत स्थितियों को उकेरने वाला यह उपन्यास है । इसके बारे में डॉ. अनिल सिंह लिखते हैं– "शकुन्तीका मोरवाल जी का ऐसा उपन्यास है, जिसमे कई पक्षों से उन्होंने समाज की नब्ज को टटोलने का काम किया है । यह कृति जहाँ एक तरफ भारतीय पारिवारिक मूल्यों के पुनः स्थापन का प्रयास है, वही दूसरी तरफ भारतीय मानसिकता में आज तक स्त्रियों को दोयम दर्जे का समझे जाने के विरुद्ध एक घोष भी है ।"[1]

प्रस्तुत उपन्यास में दो परिवार, दो पीढ़ियों की कहानी है । दशरथ और भगवती के दो पुत्र हैं, दोनों की शादी हो चुकी है पर दोनों पुत्रों को कोई पुत्र नहीं है । दूसरी ओर उग्रसेन तथा दुर्गा का परिवार है जो इनके पडोसी हैं । उनके दो पुत्र नागदत्त और अभय हैं । दोनों के दो–दो पुत्र हैं । दशरथ अपने बेटे रुपेश को लड़का गोद लेने की बजाय लड़की गोद लेने की बात करते हैं । जो बड़ी होकर ऑस्ट्रेलिया की बहुत बड़ी कंपनी में सीईओ बनती है जिसका नाम पीहू है । आगे दादा–दादी की चहेती पीहू डी.बी. फाउंडेशन अर्थात दशरथ और भगवती के नाम में संस्था बनाकर अनाथालय को दान देती है । वहां के कमरे देखती है और स्टाफ से मिलती है । चारों बहनों का आपसी प्रेम देखकर समाज वाह वाह करता है । शकुन्तीका यह नाम ऐतिहासिक पात्र शकुंतला से मिलता है । शकुंतला मेनका नामक अप्सरा और ऋषी विश्वामित्र की संतान थी, जिसके जन्म लेते ही माता–पिता ने त्याग दिया था । शकुंतो द्वारा नवजात पुत्री की रक्षा की गई एवं ऋषि कण्व ने उन्हें अपने आंगन में पाला–पोसा था । तब से उस कन्या का नाम शकुंतला पड़ा, आगे शकुन्तीका यह नाम दिया गया । उपन्यास की पात्र पीहू भी इसी तरह त्यागी गई नवजात बच्ची थी, जिसे अनाथालय से लेकर रुपेश ने पाला था । पीहू ने शकुंतला की तरह यश पाया । इस तरह शकुंतिका उपन्यास की पीहू का जीवन शकुंतला के जीवन से मिलता–जुलता दिखाई पड़ता है ।

प्रस्तुत उपन्यास की भूमिका के रूप में उपन्यासकार ने लिखा है– "उपन्यास शकुन्तीका भारतीय समाज के इसी रूढ़िवादी सोच के साथ–साथ समयानुकूल धीरे–धीरे बेटियों के प्रति बदलती मानसिकता का आख्यान है । कहते है की बेटियाँ घर की रौनक होती है । अगर माता–पिता के दिल के सबसे करीब कोई होता है, तो वे बेटियाँ ही होती है । बेटियाँ ही सबसे अधिक उनके सुख–दुःख में काम आती है । हमारे घर–परिवारों की ये शकुन्तीकाएँ अर्थात गौरैया जब–जब आंगन में फुदकती हुई चहकती है, तब यह दृश्य कितना मनोहारी होता है, इसकी वही कल्पना कर सकता है, जब विवाह के बाद में विदा होकर चली जाती है ।"[2]

क] लैंगिक भेदभाव की समस्या :–

प्रस्तुत उपन्यास शकुन्तीका में सबसे बड़ी नारी की समस्या है लैंगिकता, लैंगिक भेदभाव यह भारतीय समाज का पुराणा अभिशाप है । उत्तर भारतीय क्षेत्र में माध्यम वर्गीय परिवारों में यह प्रमुख समस्या दिखाई देती है । पुरानी चली आई प्रथाएँ आदमी के मस्तिष्क में संस्कार रूप में स्थित होती है, और वह प्रमुख समस्या बन जाती है । बेटा ही चाहिए, बेटी नहीं चाहिए यह बहुत बडी समस्या है आज के वर्तमान समाज की । प्रस्तुत उपन्यास में जो परिवार है वह बेटियों का ही परिवार है । दूसरा परिवार बेटे का है इस परिवार में पोता न होने की टीस भगवती के कलेजे में रह–रहकर उठती रहती है । उग्रसेन के घर में बेटे के जन्म पर बड़ा जश्न होता है । वह अपना दुःख अपने पडोसी दशरथ से व्यक्त करते हुए कहता है– "दशरथ क्या बताऊँ, हर काम के लिए दस बार कहना पडता है । मैं तो जब देखों तुम्हारे घर से तुम्हारे पोतियों को बस यही कहते हुए सुनाता हूँ, आई दादाजी, आई अम्मा, ऐसा लगता है जैसे तुम्हारे घर में लड़कियाँ नहीं, चिड़ियों का छोटा सा झुंड वास करता है । देखो उधर से इधर फुदकती रहती हैं ।"[3]

ख] स्त्री अस्मिता की पहचान :–

प्रस्तुत उपन्यास शकुन्तीका में आधुनिक काल की लड़कियाँ अपने ज्ञान के माध्यम से अपना अस्तित्व निर्माण करने में कामयाब हो रही है । पात्र सिया वकील बनना, गार्गी का डॉक्टर बनना और पीहू परदेश जाकर नौकरी करना नारी की अपनी गुणवत्ता है । जब स्त्री आर्थिक या शैक्षणिक रूप से सबल हो जाती है तब वह अपने जीवन के निर्णय लेने में सफल हो जाती है । इस उपन्यास में भगवती की पोतियों को शिक्षा विभूषित करना वे अपना जीवन साथी चुनने का फैसला लेने में समर्थ दिखाई देती है । अनमेल विवाह की समस्या एवं उपाय को दर्शाने की की कोशिश भी इसमें की है । धर्म–जाति आदि भेद को मिटाकर दोनों लड़कियों की शादी बिरादरी के बहार करना आधुनिकतावादी विचार है । आज स्त्री ही स्त्री की असली दुश्मन बन गई है । इसमें परिवर्तन लाना समाज के लिए बहुत जरुरी है । स्त्री का सम्मान तभी बढ़ेगा जब परिवार के पुरुष उनका हौसला बढाकर उन्हें प्रेरणा देंगे । उपन्यास में स्त्री पात्र भगवती सोचती है, बहु तीसरी बार गर्भवती है, पहली दो लड़कियाँ हैं अतः वह तीसरी बार लड़की नहीं चाहती है । तब पड़ोसन दुर्गा उसे मेडिकल जाँच करके लड़की हो तो गर्भ हटाने की सलाह देती है, जो उसे सही लगती है मगर अब यह उस बेटी का मन ही मन में तिरस्कार करती है । इसी स्त्री मानसिकता को हमें बदलना होगा । कन्याओं के प्रति सकारात्मक सोच और आत्मिक सहजता को जगाना ही इस उपन्यास का प्रमुख उद्देश्य सफल होता दिखाई देता है ।

ग] नारी जागृति करने का सफल प्रयास :–

प्रस्तुत उपन्यास शकुन्तीका में नारी जागृति करने के लिए सफल प्रयास किये है । नारी की महत्ता, उसकी अस्मिता, कर्त्तव्य, स्त्री–पुरुष भेदभाव तथा जाति–धर्म के बाहर जाकर आधुनिक विचार करना, बौद्धिक विकास तथा नारी को आत्मनिर्भर बनाने की कोशिश इस उपन्यास में की है । नारी के स्नेह, वात्सल्य, कोमलता, दया आदि मानवीय गुणों पर सृष्टि थमी हुई है । दशरथ की पोतियाँ अपने दादा–दादी की सेवा में लगी रहती हैं ।

आधुनिक युग में नारी अपने अधिकारों के प्रति सजग बनी है । उसे पुरुष के बराबर का स्थान क़ानूनी तौर पर प्राप्त है । लेकिन भारतीय समाज में परम्परा से चली आ रही स्त्री–पुरुष असमानता आज भी समाप्त नहीं हुई है । लैंगिक विभेदीकरण के इस मुद्दों को लेकर उपन्यासकार ने बड़ा यथार्थपरक प्रस्तुत किया है ।

शकुन्तीका उपन्यास की भाषा शैली :–

प्रस्तुत उपन्यास में भगवानदास मोरवाल ने परम्परागत समाज और आधुनिक समाज में बोली जाने वाली सहज एवं सरल भाषा का प्रयोग किया है । मार्मिक और पात्रानुकूल भाषा दिखाई देती है । भाषा में अलग–अलग बिम्ब और मुहावरे परिस्थितिनुरूप प्रयोग में लाये गये हैं । जैसे– खबर कपास में लगी आग की तरह फ़ैल गई, मोबाईल कूकना, सारा घर अबोली में बदलने लगा आदि । उपन्यास में कहीं–कहीं तो काव्यात्मक भाषा शैली भी दिखाई देती है । जैसे– स्मृतियों का भी अपना शास्त्र होता है, जब–जब हमें लगता है कि वह धुंधली पड़ने लगी है तभी वह किसी न किसी बहाने किसी ऋचा या आयात की तरह चुपके से आकार हमारी स्मृतियों पर छाई धुंध को हटा फिर से ताजा हो जाती है ।

निष्कर्ष :–

उपर्युक्त विवेचन के अनुरूप हम निष्कर्ष रूप से कह सकते हैं कि, शकुन्तीका उपन्यास सामाजिक यथार्थ का प्रतिबिम्ब विस्तारपूर्वक पाठक के समक्ष रखता है । आधुनिकता के आवरण के भीतर भी समाज जिस मध्यकालीन बोध से ग्रस्त है, उस आवरण को उधेड़ कर रखने का कार्य इस उपन्यास में किया है । विभिन्न नारी विमर्शों तथा समस्या से लदालद भरा यह उपन्यास है । यहाँ सामाजिक भेदात्मक रीतियों को लेखक चुनौती देता हुआ दिखाई देता है । कथावस्तु में वर्तमान भारतीय समाज में बढ़ रही पाश्विक प्रवृत्ति को उजागर करके मनोवैज्ञानिक रूप से सामाजिक सचाई को उजागर किया गया है, जहाँ पर विभेद के लिए कोई स्थान नहीं दिखाई देता ।

सन्दर्भ ग्रन्थ :–

1. (संपादक) डॉ. अनिल सिंह, शकुन्तीका : सृजन और सृष्टि – लोकभारती प्रकाशन, 2021 पृ .16

2. (संपादक) डॉ. अनिल सिंह, शकुन्तीका : सृजन और सृष्टि – लोकभारती प्रकाशन ,2021 भूमिका से पृ –12

3. भगवनदस मोरवाल – शकुन्तीका पृ . 18

नागार्जुन की कहानियों में व्यक्त दलित अस्मिता का अनुशीलन

सिनगरवार पांडूरंग गिरजप्पा
शोधछात्र
हिंदी विभाग,
रामकृष्ण परमहंस महाविद्यालय
हिंदी विभाग धाराशिव
मोबाईल 90969 09936

शोधसार

नागार्जुन का जन्म 1911 ई. की ज्येष्ठ पूर्णिमा को वर्तमान मधुबनी जिले के सतलखा में हुआ था । यह उन का ननिहाल था । उनका पैतृक गाँव वर्तमान दरभंगा जिले का तरौनी था । इनके पिता का नाम गोकुल मिश्र और माता का नाम उमा देवी था । नागार्जुन के बचपन का नाम ठक्कन मिश्र था । गोकुल मिश्र और उमा देवी को लगातार चार संताने हुईं और असमय ही वे सब चल बसीं । संतान न जीने के कारण गोकुल मिश्र अति निराशापूर्ण जीवन में रह रहे थे । अशिक्षित ब्राह्मण गोकुल मिश्र ईश्वर के प्रति आस्थावान तो स्वाभाविक रूप से थे ही पर उन दिनों अपने आराध्य देव शंकर भगवान की पूजा ज्यादा ही करने लगे थे । वैद्यनाथ धाम (देवघर) जाकर बाबा वैद्यनाथ की उन्होंने यथाशक्ति उपासना की और वहाँ से लौटने के बाद घर में पूजा–पाठ में भी समय लगाने लगे । फिर जो पाँचवीं संतान हुई तो मन में यह आशंका भी पनपी कि चार संतानों की तरह यह भी कुछ समय में ठगकर चल बसेगा । अतः इसे 'ठक्कन' कहा जाने लगा । काफी दिनों के बाद इस ठक्कन का नामकरण हुआ और बाबा वैद्यनाथ की कृपा–प्रसाद मानकर इस बालक का नाम वैद्यनाथ मिश्र रखा गया ।

आंचलिक हिन्दी उपन्यास के जन्मदाता बाबा नागार्जुन एक कुशल कहानीकार के रुप में भी प्रतिष्ठित हैं । आपने उत्तरी बिहार के दरभंगा जिले के ग्रामांचल को लेकर न सिर्फ उपन्यास लिखे हैं, अनेक कहानियाँ भी लिखी हैं । आपकी कहानियों में ग्राम जीवन की विसंगतियाँ, विषमताएँ, विद्रुपताएँ बड़ी मार्मिकता से चित्रित हैं । आपके द्वारा रचित 'ममता' कहानी एक मातृहीन बालक का अभावग्रस्त जीवन चित्र खींचता है । माँ की ममता से वंचित बुलो अपनी चाची पदमसुन्दरी की गोद में पलता–बढ़ता है, अपनी चाची से ही अपार स्नेह पाता है । बुलो दस वर्ष का बालक है । बचपन में वह माँ की ममता के लिए तरसता रहता है । अपने बाल सुलभ आचरण से वह चाची के दिए हुए पैसों से अपने लिए चीजें खरीद लेता है तो चाची के क्रोध का भाजन बनता है।

बाबा नागार्जुन की दूसरी प्रमुख कहानी 'जेठा' भी मातृ स्नेह से वंचित एक बच्चे की त्रासदीमय जिन्दगी को उद्घाटित करती है । कहानी का नायक जेठानन्द माँ की ममता के लिए तड़प उठता है । वह मातृहीन है, बचपन से ही उनकी माँ उसे छोड़कर चली गई । चार साल की उम्र में ही माँ के चले जाने से जेठानन्द मौसा–मौसी के पास रहता है । बाप के मर जाने के बाद उनकी माँ ने एक बनिये से दूसरी शादी कर ली और जेठा को छोड़कर चली गई । वह अपनी माँ से नफरत करता है, उसे गालियाँ देता है, क्योंकि उसकी माँ ने उसे छोड़कर अपने सुख के लिए दूसरे मर्द से शादी कर ली । माँ ने जेठा की जिन्दगी धूलिसात कर दी उसे बर्बाद करके रख दिया । 'भूख मर गई थी' नागार्जुन की तीसरी प्रमुख कहानी है जो ग्राम जीवन की त्रासदी चित्रित करती है ।

ग्रामीण परिवेश की गरीबी–बेबसी एवं लाचारी का नग्न रुप यहाँ पूरी मानवीय संवेदना से चित्रित हुआ है । एक गरीब बूढ़े व्यक्ति की अभावग्रस्त जिन्दगी के चित्रण में कहानीकार पूर्णतः सफल हुआ है ।

प्रस्तावना :

बाबा नागार्जुन स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी आंचलिक कथा साहित्य के सफल कथाशिल्पी हैं । उनके द्वारा रचित कथाकृतियाँ बिहार प्रदेश के गाँव परिवेश की मार्मिक तस्वीर खींचती हैं । 'आसमान में चन्दा तैरे' नामक कहानी संग्रह में संगृहित आपकी कहानियाँ आज के समाज के विविध परिदृश्य को शब्दचित्रों के माध्यम से प्रस्तुत करती हैं । यहाँ 'ममता', 'जेठा' और 'भूख मर गई थी' तीनों कहानियों की चर्चा करेंगे और जानने की कोशिश करेंगे कि ग्राम जीवन किस तरह से रुपांकित हो सके हैं ।

'ममता' कहानी एक मातृहीन बालक का अभावग्रस्त जीवन चित्र खींचता है । माँ की ममता से वंचित बुलो अपनी चाची पदमसुन्दरी की गोद में पलता–बढ़ता है, अपनी चाची से ही अपार स्नेह पाता है । बुलो दस वर्ष का बालक है। बचपन में वह माँ की ममता के लिए तरसता रहता है । अपने बाल सुलभ आचरण से वह चाची के दिए हुए पैसों से अपने लिए चीजें खरीद लेता है तो चाची के क्रोध का भाजन बनता है । बुलों के बालसुलभ आचरण के बारे में कहानीकार लिखते हैं, "दशसाला, समझाए, संजीदा अपनी उम्र के और लड़कों की अपेक्षा कुछ विलक्षण प्रकृति का कभी किसी ने बुलो को उधम या शोरगुल मचाते नहीं देखा।"[1] बुलो अपनी चाची द्वारा दी हुई इकन्नी को तीन पैंसे में बेच डालता है । उनमें से दो पैंसों का नमक लाता है और एक पैसे का दो कटहल कौआ ले आता है । वह बड़े ही चाव से कटहल–कौए को खाता है । जबकि चाची ने उसे काली मिर्च के लिए पैसे दिए थे । घर आने पर जब चाची उसे काली मिर्च के बारे में पूछती है तो वह भूल जाने का बहाना बनाता है । चाची भड़क गई और बुलो को दो चपत लगा बैठीं । बुलो रोने लगता है ।

बुलो अपने दोस्तों के साथ खेलता है, कहीं बाहर घुमने फिरने जाता है, मेला, उत्सव देखने जाता है । दूसरे बच्चों की भाँति वह भी कुछ खरीदना चाहता है, अपना शौक पूरा करना चाहता है, पर आर्थिक तंगी के चलते कुछ खरीद नहीं पाता । उसका दोस्त नरेन्द्र बाजार से बहुत सारी चीजें खरीदता है । उसे देखकर बुलो का मन भी बहुत कुछ खरीदने को तड़प उठता है । लेकिन गरीबी और अभाव के कारण वह कुछ भी खरीद नहीं पाता । वह अपनी गरीबी से तंग आकर नरेन्द्र से कहने लगता है, "यार मेरा भी बाप पूरब–पश्चिम कहीं कमाता होता और प्रत्येक महीने मनीआर्डर भेजता होता तो मैं भी संढी की तीर–कमान लेकर रामलीला के रावण को मारे जाता ही ।"[2]

बुलो अपनी चाची पदमसुन्दरी के साथ अभावग्रस्त जीवन जीता है । उनकी आर्थिक स्थिति इतनी खराब है कि बुलो के लिए कुछ भी खरीद नहीं पाते । बुलो बच्चा है, उसका मन करता है कि दूसरे बच्चों की तरह वह भी कुछ खरीदे, पर उसकी इच्छा पूरी नहीं हो पाती । चाची पदमसुन्दरी की इन बातों से उनकी आर्थिक दुरावस्था का आकलन लगाया जा सकता है, "पदमपुरी को पीछे भारी अफसोस हुआ दूसरे लड़के की कहीं ऐसी दुर्गति की जाती है? सो भी क्या तो एक घिसी और बहरी इकन्नी के लिए? हा नारायण?"[3] चाची और बुलो दोनों ही यहाँ पाई–पाई के मोहताज हैं ।

स्वयं नागार्जुन को मातृस्नेह से वंचित होना पड़ा था। बचपन में ही उनकी माता स्वर्ग सिधार गई थी, इसीलिए चाची की गोद में उनका लालन–पालन हुआ था । उन्होंने माँ के आँचल की ममता, प्यार, दुलार के लिए बचपन में तरसा था, इसलिए इस कहानी में लेखक ने अपना जीवन अनुभव प्रत्यक्ष रुप से हमारे सामने प्रस्तुत किया है । कहानी में एक जगह पर माँ के बारे में बुलो की मानसिक दशा का चित्रण करते हुए लेखक ने लिखा है, "माँ की सकल सूरत याद आते ही फिर बुलो का कलेजा फटने लगा । माथे को घुटनों के बीच डालकर बुलो फिर रोने लगा ।"[4]

बाबा नागार्जुन की दूसरी प्रमुख कहानी 'जेठा' भी मातृ स्नेह से वंचित एक बच्चे की त्रासदीमय जिन्दगी को उद्घाटित करती है । कहानी का नायक जेठानन्द माँ की ममता के लिए तड़प उठता है । वह मातृहीन है, बचपन से ही उनकी माँ उसे छोड़कर चली गई । चार साल की उम्र में ही माँ के चले जाने से जेठानन्द मौसा–मौसी के पास रहता है । बाप के मर जाने के बाद उनकी माँ ने एक बनिये से दूसरी शादी कर ली और जेठा को छोड़कर चली गई । वह अपनी माँ से नफरत करता है, उसे गालियाँ देता है, क्योंकि उसकी माँ ने उसे छोड़कर अपने सुख के लिए दूसरे मर्द से शादी कर ली । माँ ने जेठा की जिन्दगी धूलिसात कर दी उसे बर्बाद करके रख दिया ।

जेठा अपनी भगौड़ी माँ के प्रति आक्रोश भरे स्वर में कहता है– राक्षसी, चुडैल कहीं की । पिछले पन्द्रह वर्षों से वह अपना जीवन अपमान और लांछन, ग्लानि और विषाद में जी रहा है । उसे लगता है कि उसे ऐसा जीवन जीने के बजाय अब तक आत्म हत्या करनी चाहिए थी, पागल हो जाना चाहिए था, लेकिन ऐसा नहीं हुआ । इतने सारे जीवन के अभावों और समस्याओं के बीच भी वह अपना जीवन जी रहा है ।"[5]

जेठा की माँ जब दूसरी शादी कर लेती है, जेठा उनसे अलग हो जाता है । दोनों माँ बेटे के बीच दूरियाँ बढ़ जाती हैं । जेठा की माँ एक बनिए से शादी करके सुखद जीवन जीती है । उसके इस अनैतिक आचरण के लिए जेठा अपना सम्बन्ध उनसे तोड़ देता है । माँ–बेटे दोनों अलग हो जाते हैं, परिवार टूट जाता है । जब जेठा की माँ की मौत हो जाती है, तब भी जेठा को दुख नहीं लगता । क्योंकि माँ के अनैतिक व्यवहार के चलते पिछले पन्द्रह वर्षों से वह शर्मनाक जीवन जी रहा है । वह अन्दर ही अन्दर घुटन भरा जीवन जी रहा है । समाज के इस विकृत जीवन प्रसंग को वही समझता है, जिस पर बीतती है । यहाँ एक माँ अपनी ममता और प्रेम के अन्तर्द्वन्द्व में फँस गई है । दाम्पत्य जीवन के सुख के लिए उसे अपनी ममता का गला घोटना पड़ता है ।

'भूख मर गई थी' नागार्जुन की तीसरी प्रमुख कहानी है जो ग्राम जीवन की त्रासदी चित्रित करती है । ग्रामीण परिवेश की गरीबी–बेबसी एवं लाचारी का नग्न रुप यहाँ पूरी मानवीय संवेदना से चित्रित हुई है । एक गरीब बूढ़े व्यक्ति की अभावग्रस्त जिन्दगी के चित्रण में कहानीकार पूर्णतः सफल हुआ है । उस बूढ़े व्यक्ति की जिन्दगी इतनी दयनीय है कि उदरपूर्ति के लिए वह किसी भी हद तक नीचे गिरने को तैयार है । वह अपनी दहशत भरी जिंदगी से हमें अवगत कराता हुआ कहता है, "मजबूरियों में पहले तो हम खुद ही जमीन बेच–बेचकर खाते रहे, बाद में धरती माता भी हमेशा के लिए रुठ गए । ऋतुओं ने धोखा देना शुरु कर दिया, आकाश से मेघ एकदम गायब हो गये ।"[6]

कहानी–नायक वृद्ध ब्राह्मण परिवार से ताल्लूक रखता है । एक जमाने में उनके पास धन संपत्ति भरी हुई थी । उसके पिताजी दस बीघा जमीन छोड़ गए थे । लेकिन उस व्यक्ति ने धीरे–धीरे करके अगले पन्द्रह–बीस वर्षों में सारी जमीन बेच डाली । उसका बेटा पुलिस विभाग में नौकरी करता है, जो दुर्भाग्य से डाकुओं की मुड़भेठ में मारा जाता है । रोजी रोटी का कोई जरिया न होने के कारण वह व्यक्ति जमीन बेचकर भरण–पोषण करने लगा है । आखिर सारी जमीन–जायदाद खत्म हो जाने के बाद उसे अपने मृत बेटे की पत्नी यानी विधवा बहू को देह व्यवसाय के दल–दल में धकेलना पड़ता है । गरीबी और बेबसी से वह इतना तंग आ जाता है कि अपने घर की इज्ज़त को सरेआम बाजार में बेचने के लिए मजबूर हो जाता है ।

जीवन के अन्तिम पड़ाव में अपनी बहू को पापाचार के लिए धकेलने वाला एक मजबूर ससुर अपनी विवशता इन शब्दों में व्यक्त करता है, "बहू के बारे में क्या बताऊँ बाबू जी । मैंने ही उसे कुकर्म के लिए प्रेरित किया । हाँ, मैंने जान बूझकर पड़ोस के एक युवक से उसका संपर्क बढ़ने दिया । "बुभुक्षितं किं न करोति पापं"। भूखा व्यक्ति क्या नहीं करता । चार–चार बेटों में भट्ठी सुलग रही थी ।"[7] परिवार में बूढ़े व्यक्ति की बुढ़िया बहन, पोते–पोती और विधवा बहू–कुल मिलाकर चार लोग रहते हैं । सातवीं क्लास में पढ़ाई कर रहा एक पोता अपनी माँ की ओछी हरकत बर्दाश्त नहीं कर पाता और घर छोड़कर भाग जाता है । वृद्धावस्था में

वह अपने पोते को ढूंढ़ता फिरता है, पर कहीं भी उसका पता नहीं चल पाता । उसकी गरीबी ने ही उसे इस हालत में लाकर खड़ा कर दिया है । वह हालात के सामने मजबूर होकर पारिवारिक जीवन का सन्ताप बुढ़ापे की अवस्था में भोगने को मजबूर हो रहा है ।

पारिवारिक–सामाजिक संबन्धों में अर्थ की निर्णायक भूमिका इस कहानी में स्पष्ट हुई है । एक बूढ़े ससुर के सामने गरीबी इस कदर हावी हो जाती है कि अपनी ही बेटी समान बहू को पर–पुरुष के साथ शारीरिक संबन्ध रखने का आग्रह करना पड़ता है । पेट की भूख उसे इस कदर पशुतुल्य बना देता है कि अपनी ही बहू की इज़्ज़त आबरु बेचने के लिए वह कुण्ठित नहीं होता । वह खुद इस घृणित विषय का खुलासा करता हुआ कहता है, “पड़ोसी युवक जमसेदपुर से पन्द्रह दिनों की छुट्टी में गाँव आया था । ओवर्सियर है, बीस–पचीस हजार तो पीट ही चुका है । हमारी पुत्रवधू और उसमें भाभी–देवर का रिश्ता तो था ही । मगर इस महंगाई और अकाल ने रिश्ते में गाढ़ा रंग घोल दिया । मैं गूंगा और अपंग बनकर जमाने का करिश्मा देखता रहा और वह बेचारी अपनी इज़्ज़त का सौदा करती रही, चार–चार मुँहों के हवन–कुण्ड में जैसे–तैसे अनाज की समिधा डालती रही ।”[8]

सामाजिक व्यवस्था–दोष की चपेट में आकर यह परिवार दहशत भरी जिन्दगी जीने के लिए मजबूर है । घर के कमाऊ जवान बेटे की मौत से परिवार की धुरी इतनी खराब हो जाती है कि विधवा औरत को अनैतिक शारीरिक सम्बन्ध रखना पड़ता है, ताकि उसके परिवार की गाड़ी आगे बढ़ सके । एक अंधा–नंगा बूढ़ा व्यक्ति अपनी जिन्दगी से तंग आकर कह उठता है, “सरकार मुझको क्या होगा? मैं बड़ा कठजीव हूँ । यमराज को मुझसे भय लगता है । मृत्यु मुझसे दूर–दूर भागती फिर रही है । लेकिन मैं इन्हें छोडूंगा नहीं । पिछले ग्यारह महीनों से मैं मृत्यु के पीछे पड़ा हूँ, उसे पकड़ना चाहता हूँ । वह चालाक बाघिन की तरह बार–बार मुझे धोखा दे जाती है ।”[9] एक वयोवृद्ध व्यक्ति अपने जीवन–संग्राम में हार मानकर मौत को गले लगाने को कब से मौत के दरवाजे पर दस्तक दे रहा है, पर उसे मौत नसीब नहीं हो पा रही है ।

बाबा नागार्जुन की कहानियों की उत्कृष्टता सिद्ध करते हुए डॉ. तेजा सिंह कहते हैं, “प्रगतिशील चेतना संपन्न कथाकार नागार्जुन कविता, उपन्यास की भाँति कहानियों में समाज का व्यापक चित्रण नहीं कर सके हैं और न ही व्यापक स्तर पर सामाजिक विषमताओं, अंतर्विरोधों को ही अपनी कहानियों में अभिव्यक्ति कर सके हैं । विषयवस्तु की दृष्टि से इनकी कहानियाँ कमजोर और साधारण है । समाज में हो रहे व्यापक बदलाव को और उनमें अन्तर्निहित अंतर्विरोधों को व्यापकता और गहराई से वे दिखा नहीं पाए हैं । कुछ कहानियाँ सामाजिक समस्याओं को स्पर्श मात्र करके रह जाती हैं ।”[10]

निष्कर्ष

नागार्जुन एक प्रगतिवादी लेखक है । समाज में चारों ओर व्याप्त विकृतियों को देखा । उसी को अपनी कहानियों में स्थान दिया । नागार्जुन द्वारा सृजित कहानियाँ बिहार प्रान्त के लोक जीवन की सच्ची तस्वीर खींचती हैं । ’ममता’, जेठा तथा भूख मर गई थी कहानी के माध्यम से लेखक ने समाज में व्याप्त समस्याओं को यथार्थ रूप से दर्शाया है । बाबा नागार्जुन की कहानियाँ ग्राम जीवन तथा दलित चेतना की जीवन्त दस्तावेज कही जा सकती हैं और इन कहानियों का सामाजिक–सांस्कृतिक महत्व सदैव स्वीकार्य है । देहाती दुनिया में दुखद, अभिशप्त जिन्दगी जी रहे दलितों में जन जागृति पैदा करने में उपरोक्त कहानियाँ कारगर साबित हुई हैं ।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि, नागार्जुन ने शोषित, पीड़ित ग्रामीण संस्कृति के जन सामान्य के प्रति सहानुभूति प्रकट की। उनके कहानियों में आम जनता का दुःख दर्द चित्रित हुआ है । नागार्जुन के कृतित्व–व्यक्तित्व के अन्तर्गत उनके कहानियों का ऐसा चित्रण सामने आता है जो पाठक को जनजीवन के अत्यन्त निकट ले जाता है। नागार्जुन ग्रामीण अंचल की कुरीतियाँ, अंधविश्वास, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक समस्याओं का यथार्थ रूप अपने कहानियों के माध्यम से प्रस्तुत करते हैं । वे सामान्य जन तथा पाठक को इन समस्याओं से अवगत कराते हैं । ग्रामीण परिवेश में पनपे बाबा नागार्जुन सर्वहारा के पक्षधर थे ।

अकाल की पीड़ा, महंगाई, भ्रष्टाचार, परिवेशगत कोई भी स्थिति या यथार्था किसी न किसी रूप से उनके साहित्य में उभरा। ग्रामांचलों की उनकी सभी विशेषताओं के साथ साहित्य में स्थान प्राप्त हुआ है। नागार्जुन के कहानियाँ ग्रामीण अंचल के मानव–अनुभवों एवं सत्य का आंकलन करते हैं। नागार्जुन स्वयं ग्रामीण अंचल से थे, इसलिये उनके कथा साहित्य में ग्रामांचलों का यथार्थ रूप चित्रित हुआ है। सभी समस्याओं का यथार्थ रूप प्रस्तुत करना नागार्जुन के लेखक कार्य की प्रमुख विशेषता है। वे न शासन से डरते थे न शोषक से। स्त्री समस्याओं का भी नागार्जुन ने यथार्थवादी चित्रण किया है। लोक संस्कृति का रूपायन नागार्जुन ने विशेष रूप में किया है। उनके लेखन कार्या में ग्रामीण अंचल के लोग ही विषय केन्द्र रहे, चाहें वे ग्रामीण कृषक हो या मजदूर, सभी के प्रति नागार्जुन ने सहानुभूति प्रकट की। उन्होने गाँव के निम्न वर्गीय पात्रों को अपने कहानियों का विषय बनाया। उन्होने न केवल सामाजिक समस्याओं को चित्रित किया। बल्कि उसका समाधान भी प्रस्तुत किया।

संदर्भ

1. नागार्जुन, चुनी हुई रचनाएँ, संपादक शोभाकान्त मिश्र, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण 1999, पृ. 253
2. नागार्जुन, चुनी हुई रचनाएँ, संपादक शोभाकान्त मिश्र, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण 1999, पृ. 254
3. नागार्जुन, चुनी हुई रचनाएँ, संपादक शोभाकान्त मिश्र, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण 1999, पृ. 255
4. नागार्जुन, चुनी हुई रचनाएँ, संपादक शोभाकान्त मिश्र, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण 1999, पृ. 256
5. नागार्जुन, चुनी हुई रचनाएँ, संपादक शोभाकान्त मिश्र, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण 1999, पृ. 257
6. नागार्जुन, चुनी हुई रचनाएँ, संपादक शोभाकान्त मिश्र, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण 1999, पृ. 270
7. नागार्जुन, चुनी हुई रचनाएँ, संपादक शोभाकान्त मिश्र, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण 1999, पृ. 271
8. नागार्जुन, चुनी हुई रचनाएँ, संपादक शोभाकान्त मिश्र, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण 1999, पृ. 271
9. नागार्जुन, चुनी हुई रचनाएँ, संपादक शोभाकान्त मिश्र, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण 1999, पृ. 268–269
10. नागार्जुन का कथा साहित्य, तेजा सिंह, संभावना प्रकाशन, हापुड़, पहला संस्करण–1982, पृ.178

हिन्दी तथा कोंकणी उपन्यासों में बाल विमर्श
(‘उसके हिस्से की धूप’ और ‘पोको’ के संदर्भ में)

आश्मा योजिन डिसूजा
शोधार्थी
विश्वविद्यालय कॉलेज
मंगलुरु, कर्नाटक
Mob. 8073482090
ashmayoiginedsouza@gmail.com

मनुष्य एक संघजीवी है । समाज के अंतर्गत रहने के कारण सामान्यतः ही उसमें जिज्ञासु एवं चिंतनशील प्रवृत्तियों का समावेश होता है । मानव की यही जिज्ञासु प्रवृत्ति उसे साहित्य सृजन के लिए प्रेरित करती है । उपन्यास गद्य साहित्य की प्रमुख विधाओं में से एक है । उपन्यास विधा के अंतर्गत साहित्यकार मानव जीवन के मूल्यांकन के साथ उसके विविध पहलुओं पर अपनी गहनशील दृष्टि से देखने का प्रयास करता है । उपन्यास मानव मन के भावों का प्रस्फुटन है, इसमें जीवन के व्यापक फलक को विविध आयामों के माध्यम से चित्रित किया जाता है । उपन्यास को परिभाषित करते हुए डॉ भागीरथ मिश्रा ने कहा है कि, “युगों की गतिशील पृष्ठभूमि पर सहज शैली में स्वाभाविक जीवन की एक पूर्ण व्यापक झाँकी प्रस्तुत करने वाला गद्य काव्य उपन्यास कहलाता है ।”[1] कुल मिलाकर हम कह सकते हैं कि उपन्यास समाज के अंतर्गत घटित होने वाली घटनाओं का विस्तृत फलक है, जिसमें मानव जीवन की विविध परिस्थितियों और समस्याओं के समावेशों के साथ जीवन जीने के लिए दिशा निर्देशों का प्रस्तुतीकरण भी होता है ।

हिंदी तथा कोंकणी साहित्य की उपन्यास विधा अत्यंत समृद्ध रही है । दोनों भाषाओं की औपन्यासिक विधा में सामाजिक, ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक एवं हास्य प्रधान आदि बिंदुओं को केंद्र में रखकर लिखा जा रहा है ।

प्रस्तुत आलेख में बाल मजदूरी व बाल श्रम जैसी समस्या पर आधारित हिंदी उपन्यास ‘उसके हिस्से की धूप’ और कोंकणी भाषा का उपन्यास ‘पोको’ का तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन करने का प्रयास किया है । ‘उसके हिस्से की धूप’ हिंदी की वरिष्ठ कथाकार और बाल मनोविज्ञान विशेषज्ञ उषा यादव द्वारा लिखा गया है जिसमें लेखिका ने बाल मन की इच्छाएँ उनकी कुंठाओं और मनोवृतियों पर प्रकाश डाला है । उपन्यास की कहानी के केंद्र में बालिका वृंदा है जो तीन साल की आयु में अपने पिता के कहने पर तप करने के लिए मजबूर है । उपन्यास का भौगोलिक परिवेश का केंद्र आगरा का अमरपुरा गाँव है जहाँ सूखे के कारण हाहाकर मचा हुआ है। गाँव वालों द्वारा इंद्रदेव को प्रसन्न करने के लिए यज्ञ किया जा रहा है । गाँव की पांच बालिकाओं को तप पर बिठाया गया है जिनमें से वृंदा भी एक है जो मास्टर हरि सिंह और सुनीता की छठी संतान है । हरि सिंह गाँव के प्राथमिक विद्यालय में मास्टर है । सुनीता और हरी सिंह की सात बेटियाँ हैं । बच्चों के तप पर बैठने से गाँव में मूसलाधार वर्षा हुई , इसका श्रेय गाँव वालों के सामने हरिसिंह ने तप पर बैठी अपनी पुत्री वृंदा को दिया । दूसरे दिन बच्चियों की तस्वीर अखबार में भी छप गई। हरिसिंह पूरे गाँव से अपनी बेटी की वाहवाही करवाता है किंतु उसकी इस हरकत से सुनीता खुश नहीं है । सुनीता को तीन साल

की मासूम वृंदा का दिन भर भूखे –प्यासे हवन के आगे बैठना पसंद नहीं था किंतु अपने पति के आगे वह मजबूर थी । दूसरे दिन वृंदा हरि सिंह द्वारा तप की बात सुनते ही कांपने लगी और दौड़ कर अपनी माँ के गले से लग गयी । समय बीता जा रहा था गाँव वाले तप की बात को भूलने लगे । हरि सिंह गाँव वालों के मन में तप वाली घटना को जीवित रखना चाहता था । इधर सुनीता को फिर से गर्भ ठहरा तो हरी सिंह ने गाँव वालों से कहा कि, वृंदा ने घोषणा की है कि उसकी पत्नी सुनीता पुत्र रत्न को जन्म देने वाली है । नौ महीने पश्चात सुनीता ने पुत्र को जन्म दिया । वृंदा की भविष्यवाणी सही होने पर अनपढ़ गाँव वाले उसका जय जयकार करने लगे । हरि सिंह ने जैसा सोचा वैसा ही हुआ । अपनी बेटी वृंदा को देवी स्वरूपा कहलवाकर उससे वह घर की संपदा बढ़ाना चाहता था इसलिए वह वृंदा को देवी बनाने में लगा रहा । सबसे पहले उसने वृंदा के खेल–कूद पर रोक लगाया तत्पश्चात उसकी शिक्षा पर, धीरे–धीरे हरि सिंह की योजनानुसार वृंदा ढलने लगी । वह अपनी बच्ची को मानसिक एवं शारीरिक स्तर पर देवी बनाने लिए तैयार कर चुका था । उसने अपनी योजनानुसार चैत्र नवरात्रि के समय वृंदा को मंदिर में बिठाने के लिए ग्रामप्रधान राधा माधव की सहायता ली । ग्राम प्रधान की सहमति से वृंदा को चैत्र नवरात्रि के पहले दिन पूरे गाँव वालों के सम्मुख देवी मानकर मंदिर में बिठाया गया । पूरे दिन मंदिर में एक ही मुद्रा में बैठी बेटी की दशा को देखकर माँ सुनीता का कलेजा फट रहा था किंतु वह अपने हृदयहीन पति के आगे बेबस थी । सुनीता अपनी बेटी को सामान्य बच्चियों की तरह जीवन देना चाहती थी । उसकी बड़ी बेटियों को हरी सिंह ने केवल पांचवी कक्षा तक ही पढ़ाया था । सुनीता मंदिर और घर के कामों के बीच उलझ चुकी थी । उससे वृंदा की हालत देखी नहीं जा रही थी । तीन वर्ष बीतते–बीतते वृंदा की स्थिति बड़ी दयानीय हो गई । पूरे दिन में वह चाय पानी और दूध के अलावा कुछ भी नहीं लेती थी । उसकी हड्डियाँ कमजोर हो गई थी । यह देखकर सुनीता ने बेटी का डॉक्टर से इलाज करवाने की बात कही तो हरी सिंह ने साफ–साफ इन्कार कर दिया । वृंदा की स्थिति से हरि सिंह भी अवगत था । उसे लगा कि यह मरणासन्न बालिका ज्यादा दिन जीवित नहीं रह पायेगी और वृंदा का देवीस्वरूपा जगजाहिर करने के कारण उसका इलाज करवाना उसके योजनानुसार संभव नहीं था । इसलिए उसने सोचा कि नौ साल की वृंदा को जल समाधि लेने के लिए तैयार किया जाए । वह सुनीता की अनुपस्थिति में वृंदा से देवलोक, परियों की बातें करने लगा । मासूम वृंदा पर उसकी बातों का प्रभाव पड़ने लगा तो वह जल समाधि लेने के लिए मान गई । वृंदा द्वारा जल समाधि की बातें सुनकर सुनीता का मातृ हृदय तड़प उठा और वह अपने पति से बेटी की जान की भीख माँगने लगी किंतु हरि सिंह ने उसे डाँट–फटकार कर चुप कराया । जैसे ही मंदिर में जल समाधि के लिए वृंदा को तैयार किया जाने लगा वैसे ही सुनीता अंधेरे में हिम्मत करके अकेले पिनाहट पुलिस चौकी पहुँचकर अपनी बेटी पर हरि सिंह द्वारा हो रहे अन्याय के विरूद्ध रिपोर्ट लिखवाने गयी । सुनीता की गुहार पर तुरंत पुलिस ने अमरपुरा के मंदिर के ताल पर पहुँचकर डूबती हुई वृंदा को बचाया ।

कोंकणी के प्रतिभा संपन्न साहित्यकार नंदा धर्मा बोरकर द्वारा लिखित 'पोको' उपन्यास कोंकणी साहित्य की अमूल्य निधि है । 'पोको' उपन्यास पूर्णतः एक बालक के जीवन की गाथा है । बालपन से लेकर युवावस्था तक एक आम जिंदगी जीने के लिए किया गया संघर्ष ही पोको का जीवन है । पोको सवर्णेतर समाज से संबंध रखता है । उसका जन्म गोवा के एक छोटे से गाँव खेड़ेगाँव में हुआ । उसके माता–पिता शांतू और दत्तू गरीब मजदूर हैं । पोको शांतू और दत्तू का बड़ा बेटा है, जिसके पाँच भाई बहन हैं । दत्तू की कमाई से उसका घर बड़ी मुश्किल से चल रहा था इसलिए शांतू भी मजदूरी करने जाती है । माँ की अनुपस्थिति में पोको अपने छोटे भाई बहनों को संभालता है । वह माँ के साथ घर के कामों में हाथ बँटाता है । शांतू पोको को पढ़ाना चाहती है लेकिन वह पहली कक्षा तक ही पढ़ पाता है । पोको के पिता उसे सदु कामत के घर नौकरी के लिए भेजते हैं । आठ साल के बालक से सदु कामत खेत का हर प्रकार का काम करवाता है । पोको उसके इस व्यवहार से तंग आकर भाग जाता है । घर की गरीबी के कारण पोको माँ–बाप से दूर पणजी के जमींदार के यहाँ घरेलू काम करने के लिए मजबूरीवश जाना पड़ता है । काम के

प्रति उसकी ईमानदारी सबको भाती है । पणजी में दो साल रहकर वह कई अनुभव प्राप्त करता है । पोको अपने परिवार के लिए कभी मौसी के घर तो कभी दुकान पर काम करने के लिए मजबूर हो जाता है । दुकान में उसके ऊपर चोरी का आरोप लगा दिया जाता है । दुकान में काम छोड़ने के पश्चात होटल में दो साल काम करता है । धीरे–धीरे पोको स्वतंत्र रूप से काम करना सीखता है । वह खान में मजदूरों की सप्लाई करने का कॉन्ट्रैक्ट शुरू करता है । अपनी मेहनत के पैसों से हल और बैल खरीदकर जमींदारों का खेत जोतने लगता है । किंतु छोटी बहन की शादी के लिए उसे हल और बैल बेचने पड़ते हैं । वह 21 साल की उम्र में काशीनाथ नामक शिक्षित लड़के को अपना मित्र बनाता है । काशीनाथ की अंग्रेजी से प्रभावित होकर स्वयं अंग्रेजी सीखने की कोशिश करता है । पोको को 75 रुपये की सुपरवाइजर की नौकरी मिलती है । काम के प्रति उसके अनुशासन से मजदूर प्रभावित होते हैं । किसी परिचित के कहने पर हिंदी परीक्षा के साथ–साथ सातवीं कक्षा में उत्तीर्ण होता है । गोवा से दसवीं की परीक्षा में भी बैठता है, हिंदी से संबंधित सभी परीक्षाओं में उत्तीर्ण होता है । आगे जाकर वह मिशनरी स्कूल में हिंदी शिक्षक पद के लिए उसकी नियुक्त होता है । वह अपनी योग्यता के बल पर उच्चतर शिक्षा बी.ए., एम.ए. तक की डिग्रियाँ हासिल करता है ।

उपर्युक्त दोनों उपन्यासों में बच्चों की मानसिक और सामाजिक उत्थान, पतन की समस्याओं पर विस्तृत रूप से प्रकाश डाला गया है । शिक्षा मानव समाज के विकास और प्रगति के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है । इसी शिक्षा को पाने के लिए 'उसके हिस्से की धूप' और 'पोको' जैसे उपन्यासों में चित्रित बालक संघर्षरत दिखाई देते हैं । वृंदा पिता की मोटी कमाई का जरिया बनती है । चार वर्ष तक अपनी बेटी पर हो रही ज्यादती को देखकर सुनीता टूट जाती है । सुनीता वृंदा का इलाज करवाने के लिए अपने पति से प्रार्थना करती है परंतु हरि सिंह इसके लिए साफ–साफ मना करते हुए कहता है कि, "कहा न उसे एक आम बच्ची की तरह किसी चिकित्सक के पास ले जाना मुझे मंजूर नहीं है । 'पोको' में बालक पोको अपने परिवार के लिए हर तरह का काम करने के लिए तैयार है । वह मेहनत से दूर नहीं भागता । हर चीज को स्वाभाविक रूप से स्वीकार करना उसकी नियति बन चुकी है । पोको उपन्यास में उपन्यासकार आशावादी दृष्टिकोण को अपनाते हुए पोको को एक सफल अध्यापक के रूप में पाठकों के सामने प्रस्तुत करते हैं । वहीं 'उसके हिस्से की धूप' में लेखिका उषा यादव अशिक्षा, अंधविश्वास के कारण नारी की दुर्दशा, कन्या जन्म को लेकर पुरुष की मानसिकता जैसे बिंदुओं के माध्यम से समाज को जगाने का प्रयास करतीं हैं ।

संदर्भ ग्रन्थ सूची:

1 डॉ. पशुपतिनाथ उपाध्याय– समकालीन हिंदी उपन्यास दशा और दिशा– पृ. सं. 15

2 उषा यादव– उसके हिस्से की धूप– सामयिक प्रकाशन

3 नंदा धर्मा बोरकार– पोको– 'बिम्ब प्रकाशन

हिन्दी नाटक और रंगमंच के विविध प्रयोग

डॉ. अनुपमा
सह आचार्य,
हिंदी विभाग,
जी.डी.सी., सीताफलमंडी, हैदराबाद
मोबाईल नं.– 9008768306
E-Mail : dranupama.india@gmail.com

सौंदर्य, आनंद का उद्भावक होता है, लेकिन इसकी दृष्टि होती है कला के माध्यम से और कला साकार होती है कलाकृति के द्वारा । कलाकृति संबंधित माध्यम के सहारे निर्मित होती है । जैसे मूर्ति, पत्थर, मिट्टी आदि से चित्र, रंग और फलक के माध्यम से संगीत स्वर और ऊर्जा के माध्यम से इत्यादि ।

समय के साथ विभिन्न कलाओं का सौंदर्यशास्त्र विकसित हुआ लेकिन नाटक यानि रंगमंच के सौंदर्यशास्त्र का स्वरूप आज तक स्थिर नहीं हुआ है । नाटक में विभिन्न कलाओं का संयोग होने से उन कलाओं के सौंदर्यशास्त्र के मिश्र रूप ही नाटक का सौंदर्यशास्त्र समझा जाता रहा है । नाटक का स्वरूप और लक्ष्य अन्य कलाओं की अपेक्षा व्यापक होता है । अभिनय नाटक का केन्द्रीय तत्त्व है । अभिनय में भी उसके प्रकारों, आंगिक, वाचिक और सात्विक का संतुलन होना चाहिए । अगर अभिनेता सिर्फ आंगिक–वाचिक में दक्ष हो और सात्विक का उचित प्रदर्शन न करे तो अभिनय मशीनी लगने लगता है । वर्तमान समय में नाद–सौंदर्यशास्त्री वेश–भूषा और रूप–सज्जा यानि कि... को अभिनय प्रकारों से इतर सहायक तकनीक के अंतर्गत मानते हैं । इसके अंतर्गत आने वाला तत्त्व है– रुप–सज्जा, वेश–भूषा, प्रकाश व्यवस्था, संगीत और मंच व्यवस्था इन सब की अच्छी और संगत योजना उत्तम नाटक के लिए आवश्यक है । इसके साथ दृश्य में वर्णित स्थान, स्थिति और चरित्रों के मनोविज्ञान को गंभीरता से विश्लेषित किया जाए। सिर्फ फार्मूले में बंधकर काम करने से नाटक प्रभावशाली नहीं हो सकता ।

पिछले कई वर्षों में भारतीय नाटक और रंगमंच में जिस तरह से प्रयोगशीलता का दौर आया है, उसकी कई घटनाएँ साफ–साफ दिखाई पड़ती हैं, कभी वह गीत, संगीत, नृत्य और चालन के माध्यम से कई नई रंगभाषा की खोज करता दिखाई पड़ता है, कभी वह टेलीविजन, वीडियो, चित्रकला आदि के रास्ते से एक नई मंचसज्ज़ा और भाषा की खोज में अग्रसर होता दिखाई पड़ता है, कभी वह मूक अभिनय, ध्वनियों, मशीनों और दूसरे जितने भी तकनीकी तंत्र–मंत्र हो सकते हैं, उसके माध्यम से रंगमंच की अपनी एक तकनीकी भाषा रचने की कोशिश में लिप्त नजर आता है ।

हिन्दी में नाट्य रचना और हिन्दी रंगमंच का प्रारंभ भारतेन्दु हरिचन्द्र से ही होता है । भारतेन्दु स्वयं अपने आप में एक परंपरा भी थे और प्रयोग भी । हिन्दी में नाट्यांदोलन के जन्मदाता भारतेन्दु ने हिन्दी नाटक को जिस यथार्थ और सामाजिकता के प्रशस्त जनमार्ग की और मोड़ा, उसे लंबे समय के अंतराल के बाद जयशंकर प्रसाद ने आदर्शोन्मुख स्वच्छंदतावाद के सांस्कृतिक राजमार्ग पर दौड़ा दिया । प्रसाद के नाटकों में उन्माद की हद तक राष्ट्रप्रेम, उत्सर्ग भावना, भारतीय संस्कृति की अस्मिता का आग्रह, अंर्तसंघर्षों की काव्यात्मक अभिव्यंजना तो बड़ी मात्रा में मिल जाती है, लेकिन नहीं मिलती है, तो दृश्यात्मक रंग, दृष्टि और रंगमंचीय शिल्प के प्रति कोई आग्रह या प्रयत्न । आधुनिक काल में नई दृष्टि से और नई प्राथमिकताओं के साथ लिखे गये

नाटकों के प्रस्थान बिंदु पर प्रथमतः खड़ा होने का श्रेय जगदीशचन्द्र माथुर के 'कोणार्क' नाटक को है जिसमें कलाकार के अंर्तद्वंद्व की कथा है। तत्पश्चात् धर्मवीर भारती का द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात की स्थिति 'अंधायुग' और मोहन राकेश का 'आषाढ़ का एक दिन' प्रमुख नाटक रचनाएँ हैं। हिन्दी नाट्य लेखन को ठोस मंचीय आधार देने तथा मंचीय संभावनाओं के नये द्वार खोलकर हिन्दी क्षेत्र में रंग चेतना को एक व्यापक आंदोलन का रूप देने में मोहन राकेश के नाटकों, 'आषाढ़ का एक दिन', 'लहरों के राजहंस' और 'आधे अधूरे' की भूमिका निर्विवाद ऐतिहासिक है। 'भोग और वैराग्य', 'सेतुबंध', 'एक और द्रोणाचार्य', 'अग्निलीक' (पुराण का आधार है), 'अंधा युग' एक मॉडर्न क्लासिक है – उसे जितनी बार पढ़ेंगे नए–नए अनुभव, नई बातें पाएगें। कैसा अंधापन है उसमें? सचमुच वैसा अंधापन जिसमे इस दुनिया के रंग दिखाई नहीं देते या वह अंधापन जिस जानबूझकर ओढ़ लिया जाता है। इस 'नरसिंह कथा' मूल्यहीन शक्ति के मध्य से द्रवित होने वाली पशुता का चित्रण करता है। 'अग्निलीक' रामकथा को नवीन समसामायिक दृष्टि से सम्मुख रखता है। यहाँ राम राजतंत्रात्मक शक्ति के प्रतीक हैं। नारी चेतना का नया स्वर भी इस नाटक में मिलता है। 'खजुराहो को शिल्पी' ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर रचित नाटक है किन्तु जीवन की तात्विक व्याख्या प्रस्तुत करता है। 'कोमल गाँधार' में गाँधारी के चरित्र को पुनः विश्लेषित करने का प्रयास किया गया है। अंधेपन की अनेक परतें है। इस अंधेपन को जिसे धर्मवीर भारती ने महाभारत से उठाया और फिर उसे नए रूप में आप के संदर्भ से एकदम जोड़ते हुए फिर से रचा। 'रंगकर्मी' रंजन थियाम का कहना है– मैंने लोक संगीत का उपयोग किया–जो लोक संपदा है, उसे प्रयोग करके नाटक को नए रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया। इस प्रयोग से पाँच साल तक नाटक कर सकते हैं क्या– और भी प्रयोगों की आवश्यकता पड़ती है। 'अंधायुग' लिखा तो उसमें अंधापन प्रस्तुत करने के लिए धृतराष्ट्र को काला गॉगल तक पहना दिया। मैं फिल्मों की तरह ही धृतराष्ट्र को अंधा दिखा सकता था, टटोलता हुआ– किन्तु उसमें कोई नयापन, कोई आकर्षण नहीं आ पाता। अब काला गॉगल धृतराष्ट्र की आँखों पर है, दर्शक देखें और अपनी कल्पना से अंधेपन की गहराई को पकड़े। उन्हें छूट है, नाटक से जुड़ने का ये तरीका है। कई महान हस्तियों के नाटक जैसे अज्ञेय का 'उत्तरप्रियदर्शी', दुष्यंत कुमार का 'एक कंठ विषपायी', नरेश मेहता का 'खंडित यात्राएँ' तथा लक्ष्मीकान्त वर्मा का 'कथाहीन' प्रयोगधर्मी नाटक 'अपना अपना जूता' भले ही मंचीय कोटि के नाटकों के रूप में विशेष चर्चित न हो सके, किन्तु दृश्य में नवीनता और शिल्प प्रयोग की दृष्टि से इन नाटकों की नव नाट्य भाषा निर्मिति में महत्वपूर्ण भूमिका रही है। अज्ञेय का गीति नाट्य 'उत्तर प्रतिशदर्शी', आंतरिक प्रतिरूप से, निरंतर संघर्षरत, एक संवेदनशील, सहज मानव को खड़ा कर पश्चाताप और ग्लानी की तीव्रतम अनुभूतियें की रहा से, बुद्ध की व्यापक करूणा की देहरी तक पहुँचाने का रंगधर्मी प्रयास है।

काशीनाथ सिंह का 'धोआस', रमेश बख्शी का 'तीसरा हाथी', देवयानी का कहना है। हमीदुल्ला का 'दिल्ली ऊँचा सुनती है' तथा 'रावण लीला' कुछ ऐसे नाटक हैं, जो अपने नये यथार्थवाद तथ्य और प्रयोगधर्मी नये पाठ्य शिल्प एवं लोक नाट्य शैली तथा तराशी हुई तेज तर्रार नाट्य भाषा के चलते आधुनिक रंगकर्मियों का ध्यान आकर्षित करने में सफल हुए हैं।

जब हिन्दी का नव नाट्य लेखन प्रयोगशीलता और नवीनता के नाम पर पश्चिम के रूपवादी नाट्य शिल्प से कुछ अतिरिक्त रूप से प्रभावित हो गया था तब सर्वेश्वरदयाल का 'बकरी', मणिमधुकर के 'दुलाईवाई' ने पारंपरिक भारतीय लोकनाट्य शैली और अछूती लोकभाषा के सार्थक प्रयोग के अकृत्रिम मंचीय वातावरण का निर्माण कर प्रयोगशीलता की मूक नई राह बनाई। भीष्म साहनी घोषित मार्क्सवादी हैं और उनकी कथा कृतियों की ही तरह उनके नाटक 'हानुश', 'कबीरा खड़ा बाजार में' उनके प्रगतिशील सामाजिक बोध और गहरी मानवीय संवेदना के प्रमाण हैं। संपूर्ण भारतीय मध्यकाल में कबीर का एकमात्र ऐसा प्रखर व्यक्तित्व और चिंतन है जो आज भी उतना ही प्रासंगिक है। जितना तब था और कबीर की यही प्रासंगिकता 'कबीरा खड़ा बाजार

में' का अभिप्रेत भी है । यह नाटक अपने कथ्य के पैनेपन और प्रस्तुति शैली शिल्प की सी अनुकूलता के लिए विशेष चर्चित है । भीष्म साहनी के नाटकों में नाट्य शिल्पगत प्रयोगशीलता है, लेकिन प्रयोग का आग्रह नहीं ।

गिरिराज किशोर का नाटक 'प्रजा ही रहने दो' भले ही इस दौर में लिखित सर्वाधिक नाटकों का आधार और प्रेरणा स्रोत 'महाभारत' के एक प्रसंग पर ही आधृत है किन्तु वह समकालीन मानव की जीवनगत विसंगतियों और मानव के अंतविरोध के अंतर... आकाश में फैलता और विकसित होता है । इसमें द्रौपदी आधुनिक मुक्तिगामी नारी चेतना की प्रखरता की जीवन प्रतीक के रूप में प्रतिष्ठित है । मुद्रा राक्षस एक प्रतिबद्ध वामपंथी के साथ–साथ हर क्षेत्र में अपनी एक लीक बनाने वाले पंरपरा लेखन के रूप में जाने जाते हैं । अपने तेंदुआ, योर्स फेथफूली' और 'तिलचट्टा' जैसे बेहद प्रयोगशील नाटकों के द्वारा उन्होंने वर्तमान राजनीतिक, सामाजिक मुखौटों को न केवल नंगा किया, वरन् इन पर क्रूर आक्रमण भी किया । मुद्राराक्षस के नाटक अपने दृश्य के रंगेपन को क्रूर पदार्थ से जितना चौंकाते हैं, उतना ही अपने बेहद प्रयोगशील रंगशिल्प तथा नई नाट्य भाषा के पैनेपन से भी । हिन्दी नव नाट्य सृजन के क्षेत्र में नाट्य कृतियों की संख्या और इनकी रंगमंचीय सफलता की दृष्टि से डॉ. शंकर शेष के नाटक पारिवारिक पीड़ा, वैमनस्य, विघटन मूल्य, संक्रमण, संवाद हीनता और अस्तित्व संकट का प्रामाणिक त्रासद दस्तावेज हैं । इसमें हमारी समकालीनता का विकृत विकराल और भयानक चेहरा स्पष्ट उभरकर सामने आता है । पिछले तीन दशकों में व्यक्ति के केन्द्रीत और धुरीहीन होकर अंधी गलियों में परिक्रमित होने का एहसास गहन से गहनत्तर हुआ है । अपने ही द्वारा उत्पन्न विराट यॉंत्रिकता और मशीनीकरण के आगे आदमी बौना महसूस कर रहा है । विगत वर्षों में विभिन्न भारतीय राजनीतिक घटात्रलों पर जो भ्रष्टाचार, लोलुपता, स्वार्थन्धता, मूल्यहीनता संकीर्ण सरोकार विरूपता आदि जन्में–पनपे हैं उन्होंने आधुनिक नाटक एक विशेष भंगिमा व स्वर और विस्तृत आधार–भूमि प्रदान करता है, आस्था विश्वास के टूटने और आक्रोश के तीव्र स्वर इनमें स्पष्ट सुने जा सकते हैं । इन्होंने अपने नाटकों में मनुष्य के घुटनशील स्वरों को वाणी प्रदान की है । इनके नाटकों में द्वंद्व प्रमुख रूप से उभरा है । समकालीन जटिल, प्रश्नाहत बहुआयामी और बहुस्तरीय मानवीय संवेदना की अभिव्यक्ति शेष के नाटकों का मुख्य कथ्य रही है । वे सही अर्थों में कलाकार थे । उन्हें कला की परख व पहचान थी । नाटक को जीवन पर्याय माननेवाले शंकर शेष के लिए नाटक ही सर्वस्व रहा ।

अंत में यह का जा सकता है कि जहाँ भारतेन्दु हरिचन्द्र ने हिन्दी की नाट्य–कला को छोड़ा था वहाँ से जयशंकर प्रसाद ने शुरू किया और यहाँ से प्रसाद ने छोड़ा था वहाँ से जगदीशचन्द्र माथुर और मोहन राकेश उसे लेकर आगे बढ़े । यह कहना असंगत न होगा कि जिस रंग परंपरा को इन्होंने स्थापित किया डॉ. शेष ने हीं थाम लिया और निःशेष होने तक इसी साधना में लगे रहे। सभवतः आधुनिक नाटककारों में प्रथम आ सकते हैं । इनके लगभग दो दर्जन नाटक प्रकाशित हैं–जिनमें 'फंदी', 'एक और द्रोणाचार्य', 'रक्तबीज' बहुचर्चित नाटक हैं । इनकी अतीत की अपेक्षा अपना वर्तमान अधिक प्रेरित करता है और वह वर्तमान इतना बहुस्तरीय, बहुरंगीय है कि इसमें हर मूड, हर स्थिति और हर भाव विचार की सामग्री किसी कल्पनाशील सर्जक मानस को मिल सकती है । कथ्य, रंगशिल्प तथा नाट्य भाषा में पूरी तरह संतुलन कायम रखने की क्षमता ही इनके नाटकों की मंचीय सफलता का राज है ।

'सिंहासन खाली है' में सुशील कुमार सिंह संघर्ष नहीं चाहता है और यह तभी संभव हो सकता है, जब नाटककार की चुनौती दर्शक स्वीकार कर सकें । यह भी एक नया प्रयोग है, जहाँ दर्शक चौंक जाते हैं । 'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक' के द्वारा रंग जगत का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने वाले सुरेंद्र वर्मा का नाटक 'द्रौपदी', छोटे सैय्यद बड़े सैय्यद तथा 'कैदे हयात' आदि में भी उतने ही ताज़ा और प्रभावशाली दिखाई देते हैं । सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में एक गहरा सौंदर्य बोध है । समकालीन जीवन स्थितियों को उसकी आंतरिक, बाहरी संपूर्णता में देखने–समझने और पकड़ने की संवेदनात्मक क्षमता तथा

बदलते समय के साथ परिवर्तित हो रहे रंग शिल्प, भाषिक मुहावरे, नाट्य शैलियों पर चरित्रांकन की मनोवैज्ञानिक प्रतिविधियों की वैश्विक दृष्टि ने सुरेन्द्र वर्मा को एक गंभीर प्रयोगशील नाटककार के रूप में स्थापित किया है । नये नाटकों की सृजनात्मक सहभागिता में चंद महिला नाटककारों का योगदान भी कम गौरतलब नहीं है । मन्नु भंडारी का 'बिना दीवारों का घर' मृणाल पांडे के 'जो राम रचि राखा', 'चोर निकल भागा', मृदुला गर्ग के 'एक और अजनबी' तथा 'आदमी जो मछुआरा नहीं था' आदि नाटकों ने अपने यथार्थवादी नये कथ्य और आधुनिक नाटक रंगशिल्प के माध्यम से आज के जिस बहुस्तरीय जीवन यथार्थ की अभिव्यक्ति की है, वह समकालीन नाटक रचना और इसमें रचनाकारों को प्रमाणित करते हैं । इन सभी ने नाट्य लेखन को काफी गंभीरता से लिया है और समकालीन रंग शिल्प की प्रयोगशीलता की चुनौतियों को साहस और सामर्थ्य के साथ स्वीकारा है । 'लिफ्ट' नाटक का प्रयोग हुआ है । (केवल भाषा संवाद और भाव) तुम्हारी अमृता नाटक का मंच (प्रयोग, खेल, भाषा और भाव बिना हिले डुले) ।

जो कर रहे हैं नाटक । उन्हें भी नहीं है मालूम
कितनी सदियों से चल रहा है यह शो
जीन घंटो में कितने सारे वर्ष चले आते हैं
जब परदा खिंचता है और बत्तियाँ बुझती हैं
तो कई दुनियाएँ एक साथ झन्न से खत्म हो जाती हैं ।

–प्रियदर्शन

कुर्सियाँ लग चुकी हैं । प्रकाश व्यवस्था संपूर्ण है
माइक हो चुके हैं टेस्ट
अब एक फुस फुसाहट पहुँचती है
प्रेक्षागृह के किसी भी कोने में
तैयार है कालिदास, सिर्फ वस्त्र बदलने बाकी है
मल्लिका निहारती है अपने केश ।

–रंगप्रसंग

प्रयोग के स्तर पर हिन्दी रंगमंच की नवीन खोज और स्थापना स्वातंत्र्योत्तर नाट्य साहित्य की बड़ी घटना मानी जा सकती है । इब्राहिम अलका, सत्यदेव दूबे, श्यामानन्द जालान, ओमा शिवपुरी, राजेन्द्रनाथ, देवेन्द्र राज अंकुर आदि रंगकर्मियों के प्रयास से रंगमंच के प्रति एक दृढ़ आस्था अविर्भाव से व्यावहारिक कथ्य लेखन के अभाव की पूर्ति का तीव्रता से प्रयास हुआ ।

आज के समस्या नाटक व्यक्ति की कमजोरियों की, सामाजिक राजनीतिक तथा आर्थिक व्यवस्था की आलोचनात्मक व्याख्या के साथ वैज्ञानिक विश्लेषण से, दर्शकों को इस प्रकार की विषमताओं से जूझने तथा उनसे बचने की सलाह देते हैं ।

पहले की अपेक्षा आज के रंगमंच की सज्ञा, केवल चित्रों एवं दृश्यों को यथा– संदर्भ नियोजित करने में ही नहीं है, वरन् निर्देशक अपनी कल्पना से ऐसे प्रतीकों की भी सृष्टी करता है जिनसे, रंगमंच पर प्रदर्शित दृश्य–व्यापार अपने आन्तरिक और बाह्य विन्यास के साथ अभिव्यक्त हो सके । नाटक के अभिप्राय की सम्यक् अभिव्यक्ति प्रमुखतः अभिनय के द्वारा होती है, अभिनेता ही नाटककार एवं 'रंगनिर्देशक' द्वारा भावनाओं एवं कल्पनाओं को संप्रेषणीय एवं मूर्तिमान बनाता है । अभिनेता द्वारा प्रस्तुत अभिनय के दो रूप हैं कथोपकथन और भाव प्रदर्शन ।

आचार्य वामन ने नाटक की तुलना चित्र से की है, अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार चित्र में रंग एवं रेखाओं की योजना को आल्हाद प्रदान करती है, उसी प्रकार, नाटक में उसकी प्रविधि के अनुरूप विभिन्न उपकरणों की संहति, सामाजिकों के रसास्वाद का कारण बनती है । काव्य की चरम अभिव्यक्ति नाटक द्वारा ही संभव है – "नाटकान्तम कवित्वम"

हिन्दी के नाट्य–प्रदर्शनों का अभिप्राय सदैव एक समान नहीं रहा । युगीन परिस्थितियों एवं अन्यान्य कारणों से धीरे–धीरे रसान्विति से होकर कार्यव्यापार एवं शील–वैचित्रय के समन्वय के साथ–साथ नवीन मनोवैज्ञानिक एवं यथार्थवादी दृष्टिकोण तक इसकी गति रही है । भारतेन्दु युग, प्रसाद युग तथा प्रसादोत्तर काल के नाटकों में जो विभिन्नता दृष्टिगोचर होती है और उन पर परिवर्तित मान्यताओं का जो प्रभाव दिखलाई पड़ता है वह निश्चय ही अलग है । हिन्दी नाट्य–प्रदर्शनों में दृश्य–विधान के लिए पाश्चात्य सामग्री से अधिक लाभ उठाया गया है । प्रायः विविध प्रकार की दृश्य योजना के लिए उसी रंग से मिलते–जुलते परदे लगा दिए जाते थे । आज हिन्दी राष्ट्रभाषा है, इसलिए उसके रंगमंच को राष्ट्रीय स्तर के महत्व को प्राप्त करना आवश्यक है । निश्चित है कि इस प्रकार के रंगमंच के विकास के लिए प्राचीन परंपराओं को पुर्नजीवित करना पड़ेगा, हमें प्राचीन अभिनय के स्वरूप को प्रयोग करना है । आज हिन्दी नाटक के लिए लेखकों के विचार भिन्न–भिन्न हो सकते हैं । भारतीय नाटक परंपरा के पुननिर्माण की आवश्यता नृत्य नाट्य परंपराओं का समन्वय कर उन्हें बृहत्तर भारत की परंपराओं से जोड़े । लोक–नाटकों का योगदान सफलता प्रदान कर सकता है ।

संदर्भ ग्रंथ सूची:–

1. डॉ. सुषमा बेदी–हिन्दी नाट्य प्रयोग के संदर्भ में, पृ.सं.6.
2. डॉ. सीताकुमार–स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटक, मोहन राकेश के विशेष संदर्भ में, पृ.सं.157.
3. डॉ. दशरथ ओझा– आज का हिन्दी नाटक प्रगति और प्रभाव, पृ.सं.17.
4. डॉ. नर नारायण राव– नया नाटक, उद्भव और विकास, पृ.सं.216.
5. सारिका – 16 जनवरी 1982 में प्रकाशित डॉ. शंकर शेष के साथ श्री भगवान टटलानी से बातचीत.
6. डॉ. बृजराज किशोर– हिन्दी नाटक और रंचमंच समकालीन परिदृष्य, पृ.सं.98.
7. दीर्घा, अंक – 33, पृ.सं.21.
8. डॉ. प्रकाश नारायण जाधव– रंगधर्मी नाटककार शंकर शेष, भूमिका से.
9. डॉ. वसुधा सहस्रबुद्धे– शंकर शेष का नाट्य साहित्य, पृ.सं.23.
10. डॉ. सिद्धनाथ कुमार प्रसाद के नाटकों का पुनर्मूल्यांकन, पृ.सं.212.
11. डॉ. हर्षबाला शर्मा– समकालीन हिन्दी नाटक,
12. रामचन्द्र सरोज– हिन्दी नाटक इतिहास, शिल्प और रंगमंच – पृ.सं.147.

शब्द–शक्ति: अर्थ, भेद, स्वरूप एवं महत्त्व

श्री नरेश कुमार 'वत्स'
संस्कृत अध्यापक
राजकीय माध्यमिक विद्यालय बिधराना जिला जींद हरियाणा
मोबाइल– 09896923078
ई–मेल– nareshsharma077@gmail.com

शोध सारांश–

शब्द और अर्थ एक दूसरे के पूरक भी हैं और एक दूसरे पर आश्रित भी । उनकी स्थिति वही है जो जल और तरंग की होती है । गोस्वामी तुलसीदास ने कहा है ''गिरा अरथ जल–बीचि सम काहियत भिन्न न भिन्न ।'' दोनों का मूल स्रोत वाक् तत्त्व है। अर्थ के साथ शब्द का संबंध ही शब्द को अर्थवान बनता है अर्थात शक्ति का संचार करने वाला अर्थ ही होता है जो वक्त, प्रसंग, श्रोता और प्रयोग के अनुसार अर्थ को निश्चित करता है । अर्थ पर ही शब्द शक्ति निर्भर करती है । किसी शब्द के अंतर में निहित अर्थ को व्यक्त करने वाले व्यापार शब्द शक्ति कहलाते हैं । शब्द शक्ति ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा वाक्य के अंतर्गत किसी शब्द का अर्थ ग्रहण किया जाता है ।

बीज शब्द– शब्द शक्ति, अभिधा, लक्षणा, व्यंजना, वाच्यार्थ, लक्षणार्थ, व्यंग्यार्थ

शब्द शक्ति अर्थ एवं स्वरूप:–

शब्द शक्ति को समझने से पूर्व हम शब्द से संबंधित तीन स्थितियों पर विचार करते हैं । प्रथम स्थिति में यदि हम खेत में घास घर रही किसी गाय नामक पशु को देखकर कहें 'गाय चर रही है' तो हमारे मस्तिष्क में एक अवधारणा बनेगी कि ऐसा कोई पशु चर रहा है जिसके चार थन, दो सींग, दो कान और लंबी पूँछ है । वह एक पालतू पशु है जो दूध देता है ।

दूसरी स्थिति में यदि हम अपने घर में आई नवविवाहिता के गुणों से प्रभावित होकर कहें 'हमारे घर में जो बहू आई है वह बिल्कुल गाय है' तो दिमाग में एक ऐसी अवधारणा बनेगी कि जो नवविवाहित आई है वह है तो औरत परंतु है बहुत ही शरीफ और शील स्वभाव की । तीसरी स्थिति में यदि किसी बस में ज्यादा भीड़ है और एक बहुत ही कमजोर व्यक्ति बस में चढ़े उसे देखकर कंडक्टर बोले कि 'पहलवान! थोड़ा आगे सरको' तो वहाँ 'पहलवान' का शाब्दिक अर्थ कुछ भी हो परंतु इसका अर्थ वक्ता (कंडक्टर) और श्रोता (कृषकाय व्यक्ति) के लिए समझने के लिए लगभग समान होगा क्योंकि संभवत कंडक्टर ने दूसरे व्यक्ति को व्यंग्य में ऐसा कहा हो और श्रोता ने उसे व्यंग्य समझकर कहा हो और श्रोता ने उसकी प्रत्युत्तर दिया हो । अतः स्पष्ट है कि जिस प्रकार प्रथम दोनों स्थितियों में 'गाय' और तीसरी स्थिति में 'पहलवान' शब्द का अर्थ शाब्दिक अर्थ से भिन्न है । इनमें इन शब्दों का अन्य अर्थ है जो इस शब्द में छुपा है परंतु समय और संदर्भ के अनुसार बदल जाता है । शब्दों में छुपे इस अर्थ को शब्द–शक्ति के नाम से जाना जाता है । सामान्य अर्थ में हम कह सकते हैं कि शब्दों में जो अर्थ निहित होता है उसके अर्थ को प्रकट करने वाला व्यापार ही शब्द–शक्ति कहलाता है । जैसा हमने ऊपर की तीनों स्थितियों में देखा । शब्द का अर्थ तो निश्चित होता है परंतु भिन्न–भिन्न परिस्थितियों में, संदर्भ में उसका अर्थ भिन्न हो जाता है यह भिन्न अर्थ निकालने का कार्य जिस शक्ति के द्वारा संपादित होता है उसे शब्द शक्ति के नाम से जाना जाता है ।

शब्द शक्ति के भेद–

शब्द शक्ति के कितने भेद होते हैं? इससे पूर्व हमें यह जान लेना जरूरी है कि शब्द कितने प्रकार के होते हैं । शब्द मुख्यतः तीन प्रकार के होते हैं वाचक, लक्षक और व्यंजक । इसी के आधार पर इसके अर्थ भी तीन प्रकार के हो जाते हैं वे हैं– रूढ़, यौगिक और योगरूढ़ । जो वाच्यार्थ को प्रकट करते हैं उनको अभिधेयार्थ भी कहते हैं । इसी अभिधेयार्थ के आधार पर पहली शब्द शक्ति अभिधा होती है । किसी भी शब्द के वाच्यार्थ को छोड़कर जब लक्ष्य अर्थ प्रकट होता है वहाँ लक्ष्यार्थ को संपादित करने वाली शक्ति लक्षणा कहलाती है और इसी प्रकार अन्य अर्थ को प्रकट करने वाली शक्ति व्यंजना शब्द शक्ति के नाम से जानी जाती हैं । अतः शब्द शक्ति मुख्यतः तीन प्रकार की होती है अभिधा, लक्षणा और व्यंजना ।

अभिधा शब्द शक्ति द्वारा विवर्तित अर्थ –

अभिधा वह पहली शब्द शक्ति होती है जो मुख्य अर्थ का बोध कराती है । एक शब्द का वाच्यार्थ निश्चित नहीं होता । एक ही शब्द के बहुत सारे वाच्यार्थ हो सकते हैं । विशेष संदर्भ में किसी शब्द का क्या अर्थ लगेगा इसका निर्णय प्रसंग, अर्थ प्रकारण, सामर्थ्य, देश, काल, संयोग या वियोग किसी भी आधार पर हो सकता है । ऐसे में अलग आधार पर शब्दार्थ की कल्पना विशिष्ट हो सकती है । यह कल्पना संकेत और कल्पित अर्थ को संकेतित करती है । इसी संकेतितार्थ को वाच्यार्थ या अभिधार्थ कहते हैं । प्रसिद्ध आचार्य विश्वनाथ ने अपनी पुस्तक 'साहित्यदर्पण' में लिखा है की सांकेतिक अर्थ के बोध के व्यापार को अभिधा कहते हैं । 'तत्र संकेतितार्थस्य बोधनाद इमाभिधा' अर्थात भाषा की वह शब्द शक्ति जिसमें शब्द के सामान्य प्रचलित अर्थ का बोध होता है, अभिधा कहलाती है । यहाँ यह स्पष्ट किया जाता है कि शब्द शक्ति में शब्द का प्रसंगत अर्थ व्यापित होता है ।

लक्षणा शब्द–शक्ति के विवर्तित अर्थ–

किसी भी शब्द का अर्थ वाच्यार्थ तक सीमित नहीं रहता । जहाँ मुख्य अर्थ में बाधा उत्पन्न हो जाए तो दूसरा अर्थ या तो रूढ़ी के आधार पर या प्रयोजन के आधार पर लगा दिया जाता है । वहाँ वह अर्थ लक्ष्यार्थ कहलाता है । शालीनता, संकोच, मर्यादा, आदि को कम से कम शब्दों में व्यक्त करने की इच्छा वक्ता की होती है यही इच्छा लक्षणा शब्द शक्ति का कारण बनती है । दूसरी स्थिति में आए उदाहरण को देखिए । 'हमारे घर में जो बहू आई है बिल्कुल गाय है' यहाँ शब्द का मुख्य अर्थ लक्षण के आधार पर लिया गया है । क्योंकि यहाँ एक तो मुख्य अर्थ में बाधा उत्पन्न हुई है, दूसरे मुख्य अर्थ और लक्ष्य अर्थ में परस्पर संबंध है और तीसरे इसका अर्थ किसी विशेष प्रयोजन के कारण अन्य अर्थ लगाया जा रहा है । यही अन्य अर्थ देने वाला कार्य व्यापार लक्षणा शब्द शक्ति के नाम से जाना जाता है । इसी प्रकार यदि हम रामायण में आए एक प्रसंग के आधार पर कहें 'अहिल्या पत्थर बन गई ।' में जब अहिल्या के चरित्र पर दोष लगा तो वह पत्थर के समान निष्प्राण सी हो गई थी । किसी महिला का पत्थर बन जाना लक्षणार्थ है । लक्षणा शब्द शक्ति आचार्यों के मध्य व्यापक चर्चा का विषय रही है ।

व्यंजना शब्द शक्ति के विवर्तित अर्थ–

तीसरी शब्द–शक्ति का नाम व्यंजना है । अभिधा और लक्षणा के असमर्थ हो जाने पर शब्द का सर्वथा नया अर्थ व्यंजित हो, तब प्रकट हुआ नया अर्थ ही व्यंजना कहलाता है । दूसरे शब्दों में जब वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ अपना अर्थ का बोध करवा कर विरत हो जाए और जिस शब्द शक्ति से किसी तीसरे नए अर्थ का बोध हो उसे हम व्यंजना शब्द शक्ति के नाम से जानते हैं और उससे निकलने वाले अर्थ को हम व्यंग्यार्थ कहते हैं । व्यंग्यार्थ वास्तव में श्रोता या पाठक पर ही निर्भर करता है । वह उसके अर्थ का केवल संकेत देता है और अपनी कल्पना शक्ति के आधार पर श्रोता या पाठक बाकी अर्थ को ग्रहण करता है । वस्तुत व्यंजना, अभिधा और लक्षणा से परे किसी अन्य अर्थ की प्रतीति करवाती है । विश्वनाथ ने अपने 'साहित्य दर्पण' में व्यंजना को परिभाषित करते हुए सूचित किया है कि इसका संबंध शब्द और अर्थ दोनों से है ।

विस्तारस्वभिधासु यथार्थों बोध्यते परः ।

सा वृत्तिर्व्यंजना नाम शब्दस्यार्थादिकस्यच ।

व्यंग्य तो केवल सहृदय ही समझ सकता है जबकि अभिधेयार्थ और लक्ष्यार्थ को कोई भी सहज रूप से ग्रहण कर लेता है। यदि किसी सतही कवि को कहा जाए कि आप तो 'महाकवि' हैं तो इस कथन की व्यंजना सर्वथा विपरीत अर्थ को इंगित करती है कि आप नहीं है । अतः यहाँ व्यंजना है इसी प्रकार जैसे प्रथम उदाहरण में बताया गया था कि यदि किसी कमजोर व्यक्ति को देखकर हम कहें 'पहलवान' थोड़ा आगे सरको तो इस 'पहलवान' शब्द का सर्वथा विपरीतार्थ होगा । इसमें वक्ता भी व्यंग्य रूप में उसे पहलवान की कहने की हिमाकत कर रहा है और श्रोता अर्थात वह कृषकाय व्यक्ति भी उसे व्यंग्य समझकर शायद कहने वाले को कह दे कि आपका कहने का अर्थ क्या है? मैं आपको पहलवान दिखाई देता हूँ?

अतः यहाँ व्यंजना शब्द शक्ति होगी लेकिन यह कोई जरूरी नहीं कि हम किसी व्यक्ति को व्यंग्य करके ही कहें । सामान्य रूप से यह शब्द–शक्ति सूचनार्थ भी होती है । किसी व्यक्ति के खेत में नहरी पानी देने का समय पाँच से छह तक है तो वह पहले व्यक्ति को यह कह कर याद दिलाये कि पाँच बज गए । अब कहने को तो यह सामान्य अर्थ है केवल सूचित कर रहा है कि पाँच बज गए हैं परंतु इस वाक्य में के अंदर छुपी हुई शब्द–शक्ति यही है कि वह उसे आगे कह रहा है कि उसके पानी का समय हो गया है । यहाँ कोई व्यंग्य नहीं है परंतु व्यंजना शब्द शक्ति जरूर है ।

उपसंहार –

तीनों शब्द शक्तियाँ अभिधा, लक्षणा और व्यंजना के माध्यम से शब्द के अर्थ का पता चलता है । काव्य में इन सब शक्तियों का महत्त्व निर्विवाद है । जहाँ काव्य में व्यंग्यार्थ प्रमुख है वहीं संस्कृत के कई आचार्यों ने अभिधा को ही प्रमुखता प्रदान की है । उनका मानना है कि समस्त शब्द शक्ति व्यापार अभिधा पर ही आधारित है । हिंदी के आचार्य देव ने अभिधा को प्रमुख मानते हुए स्वीकार करते हैं–

"अभिधा उत्तम काव्य है, मध्य लक्षणा लीन ।

अधम व्यंजना रस कुटिल, उल्टी कहत प्रवीन ।"

शब्द शक्तियों को श्रेणीबद्ध करना समीचीन प्रतीत नहीं होता लेकिन भाषा में सभी शब्द शक्तियों का अपना विशिष्ट महत्त्व है । तीनों शब्द शक्तियाँ ही अर्थ चमत्कार हेतु बनती है ।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. गणपति चंद्र गुप्त, साहित्यिक निबंध, लोक भारती प्रकाशन
2. गोविंद पांडे एवं सरस्वती पांडे, हिंदी भाषा एवं साहित्य का वस्तुनिष्ठ इतिहास, अभिव्यक्ति प्रकाशन
3. रामचंद्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास, अनिल प्रकाशन
4. विजय पाल सिंह, पाश्चात्य काव्यशात्र, जय भारती प्रकाशन, इलाहाबाद
5. प्रतियोगिता दर्पण अतिरिक्तांक,हिंदी भाषा
6. रचना (अप्रकाशित शोध प्रबंध), 'अटल बिहारी वाजपेयी के काव्य में मानवतावादी दृष्टिकोण', दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा मद्रास
7. रचना (अप्रकाशित लघु शोध प्रबंध), 'रामचरितमानस में प्रकृति चित्रण', दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा मद्रास

आसान नहीं पुरुष होना

शर्मा साक्षी चंद्रशेखर सरिता
फोन : 7498488709
मेल : sharmasakshi9828@gmail.com

आसान नहीं पुरुष होना...
आसान नहीं पुरुष होना,
क्योंकि पुरुष की भावनाओं पर कविताएँ नहीं पढ़ी जाती है,
चोट लगने पर उन्हें रोने का अधिकार नहीं होता है,
जवान होने के बाद उन्हें घर बैठने की सुविधा नहीं होती है,
और बाहरी दुनिया के तमाम उलझनों में उलझे होने के बावजूद भी ,
घर आकर उन्हें अपने चेहरे पर हसीं रखनी पड़ती है,
उनके "कुछ नही" कहने पर उन्हें बार बार "क्या हुआ?" पूछने वाला कोई नहीं होता,
और उनके व्यक्तित्व की पहचान उनके पगार से होती है।
आसान नहीं पुरुष होना,
क्योंकि खुद रूठा होकर भी दूसरों को मनाना आसान नहीं होता,
अपने सपने तोड़ कर पिता का सहारा बनने के लिए छोटी उम्र में घर की
जिम्मेदारियाँ अपने सिर ले लेना आसान नहीं होता,
दूसरों के आंसू न बहें इसलिए खुद अपने आंसू छिपा लेना आसान नहीं होता,
और अपनी पूरी कमाई परिवार पर खर्च कर अपने लिए एक घड़ी तक न लेना आसान नहीं होता।
आसान नहीं पुरुष होना,
क्योंकि अपने परिवार को पालने के लिए उनसे ही दूर रहना आसान नहीं होता ,
मां तो रो लेती है दुख में पर यह हुनर पिता में नहीं होता,
टूट कर बिखर जाने पर भी बिना आंसू बहाएँ सब सहन कर लेना आसान नहीं होता,
त्योहार पर सबके लिए नए कपड़े खरीद कर खुद पुरानी शर्ट पहन कर सुखी रहना
आसान नहीं होता,
और सब कुछ ठीक न होने पर भी सब कुछ ठीक होने का अभिनय करना आसान नहीं होता।
हर लड़की कहती है "काश मैं लड़का होती।" कहती है ,
क्योंकि पुरुष की समस्याओं को अभी तक पन्नो पर नहीं उतारा गया है ।
इसलिए हम क्या जाने की पुरुष होना भी आसान नहीं होता।
भले हूं मैं स्त्री वादी,

साहित्याकाश

भले हूं मैं स्त्री वादी,
और जानती हूं कि हमने कितना कुछ भोगा है ,
पर आज यह कहना की पुरुष होना क्या बड़ी बात है?
मेरे लिए आसान नहीं।
क्योंकि सचमुच आसान नहीं पुरुष होना
क्योंकि सचमुच आसान नहीं पुरुष होना...।

साहित्याकाश

हिंदी दिवस

डॉ. ललिता कुमारी
आर. के. डी. एफ. विश्वविद्यालय रांची
कटहल मोड़, मो.– 8969330114
lalitakumari655@gmail.com

हिंदी से हिंदुस्तान और हम सब की पहचान
हिंदी है हमारी आन–बान और शान,

इसकी उन्नति से ही जीवंत हमारी संस्कृति
वेद, पुराण, उपनिषद में व्याप्त मानव की प्रगति,

हिंदी भाषा जन–जन की भाषा हर मन की आशा
इसे सीखने की होती सबकी जिज्ञासा,

ज्ञान अर्जन में विपुल जीवन को बना दे प्रफुल्ल
परिस्थितियों को करती सदा अनुकूल,

शब्द पठन–पाठन में सरल
लेखन वाचन में नहीं तनिक भी जटिल
इसे सीखना नहीं मुश्किल,

हिंदी की महिमा रहे युग युगांतर
इसकी ख्याति फैले सर्वत्र अक्षांश और देशांतर
हिंदी भाषा है सर्वोच्च और श्रेष्ठतर,

संस्कृत से संस्कृति हिंदी से हिंदुत्व
कायम रहे सदा इसका प्रभुत्व,

भाषा की अभिव्यक्ति का आधार
बिना इसके जीवन है निराधार,

भाषा भाव में, अभाव में, प्रभाव में, जीवन की हर राह में
धूप में छांव में नदी की धार में बीच में मझधार में

हिंदी हमारी जीवन की हर
किरदार में,

सादगी, ताजगी और जिंदादिली
हर मन की हंसी हर क्षण की खुशहाली
हिंदी भाषा स्वयं में अनोखी अनूठी और निराली,

रामायण में रमणीयता
कामायनी में कमनीयता,
गीता में यथार्थता महाभारत में कर्मठता
वेदों में विद्वता, पुराणों में जीवंतता,

हिंदी भाषा में रचित गीत, गजल, शायरी और रूबाईयां,
नाटक, उपन्यास, शब्द चित्र, रेखा चित्र और कहानियां,
स्मरण कराती सदा संस्कृति जुडती हमसे हमारी प्रकृति,

जीवन में ऐसे भी पल आते हैं जब हम विचलित हो जाते हैं,
भूत, भविष्य, वर्तमान सर्वत्र अंधेरे छा जाते हैं,

उस पल को कर देती सरल साहित्यिक रचनाएं ,
निराशा भरे जीवन में जगती हैं आशाएं नित नवीन संभावनाएं,

साहित्य, कला, वाणिज्य विज्ञान इनके अध्ययन से ही मानव हासिल कर पाता अपना मुकाम,

हिंदी भाषा कर्ण प्रिय, हृदय ग्राही, मर्मस्पर्शी,
इससे ही मिलती मन को आंतरिक खुशी,

हिंदी दिवस मनाना मात्र मनोरंजन नहीं
ज्ञात रहे विलुप्त ना हो जाए हिंदी भाषा कहीं,

राजभाषा है यह अब तक राष्ट्रभाषा बनेंगी कब तक
प्राप्त होगी इसे अवश्य एक दिन यह हक, इसमें तनिक भी नहीं है शक,
इसकी अहमियत को पहचाने, हिंदी हमारी पहचान हमारा स्वाभिमान हम सब इसे मानें

अपने–अपने राम

पूर्णिमा श्रीनिवासन
वेल्स विश्वविद्यालय, चेन्नई
9884026296

सदा राम, सर्वत्र राम ।।
बच्चों की किलकारी में,
बांसुरी की मधुर ध्वनि में,
मानव की मानवता में,
दीन दुखियों की संपन्नता में,
सदा राम सर्वत्र राम ।।
वरिष्ठ के उपदेश में,
विजेता के आघोष में,
अथक परिश्रमी के आत्मविश्वास में, अपार आशावादी के श्वास में,
सदा राम, सर्वत्र राम ।।
सरिता की सरसरी में,
ऋतुओं की प्यारी हंसी में,
सलिल के रंजक शीत में,
समीर के मोहक आघात में,
सदा राम, सर्वत्र राम ।।
ऋणी रोगियों के आश्वासन में, कर्मयोगी के अनुशासन में,
भवसागर के सुख दुख में,
पाश–माया मोह के विमुख में,
सदा राम, सर्वत्र राम ।।
प्राणियों के प्रति सद्भावना में, दानियों की तरल भावना में,
विद्वानों की विशिष्ट रचना में,
पापियों की क्षमा याचना में,
सदा राम, सर्वत्र राम ।।
पति–पत्नी के पवित्र बंधन में,
परिवार रूपी सशक्त साधन में,
विश्व बंधुत्व के अनन्य स्पंदन में, अखंडित देश के प्रति वंदन में,
सदा राम, सर्वत्र राम ।।

सखी! देखो बसन्त आ रहा है

पुनीत आर्य

चिवँ चिवँ चिडिया चहचाहकर बोली, सुमन्त आ रहा है,
गंघियाँ लहराकर गीत सुनाती,सखी! देखो बसन्त आ रहा है ।

सांझ–सवेरे रूप सुनहरे, और दोपहर की हवा निराली,
मौसम को फगुनाकर बोली, माघ का अन्त आ रहा है ।
..... सखी! देखो बसन्त आ रहा है ॥
हरी है धरती, व्योम नीला, धवल कुहासा चीरता भगवा,
लगता है जैसे पुर्वैय्या से चलके, कोई महन्त आ रहा है
......सखी! देखो बसन्त आ रहा है ॥
खिलती कलियां, मीठी खुशबू, रंगबिरंगी ढेरो तितली,
पकडने को दौडते नन्हे बच्चो पे, प्रेम अनन्त आ रहा है ।
......सखी! देखो बसन्त आ रहा है ॥
बागो की बासन्ती खुशबू में, शकुन्तला सी उडती मैना,
टर्र–टर्रा के कह रही हो जैसे, उसका दुष्यन्त आ रहा है ।
.......सखी! देखो बसन्त आ रहा है ॥
धुन्ध कुहासा सब हट गये, तमस अब सारे मिट गये,
लगता है सूरज सा प्रकाश फैलाने, कोई संत आ रहा है ।
......सखी! देखो बसन्त आ रहा है ॥

खडे है सब कतार में, करने को स्वागत, इन्तजार में,
हृदयो का उल्लास बढाने, लेके खुशियाँ अनन्त आ रहा है ।
.........सखी! देखो बसन्त आ रहा है ॥
...........सखी! देखो बसन्त आ रहा है ॥